अनुक्रमणिका

	निबंध	पृ. सं.
1	क्या निराश हुआ जाए	हजारी प्रसाद द्विवेदी
2.	घीसा	महादेवी वर्मा
3.	पर्यावरण संरक्षण	शुकदेव प्रसाद
	कविताएँ	
4.	पेश्मेला की प्रतिध्वनि	जयशंकर प्रसाद
5.	पैतृक सम्पत्ति (जब बाप मरा...)	केदारनाथ अग्रवाल
6.	उनको प्रणाम	नागार्जुन
7.	हो गई है पीर पर्वत सी	दुष्यंत कुमार
8.	धार्मिक दंगों की राजनीति	शमशेर बहादुर सिंह
	कहानियाँ	
9.	मंत्र	प्रेमचंद
10.	भोलाराम का जीव	हरिशंकर परसाई
11.	त्रिशंकु	मन्नू भंडारी
12.	पारिभाषिक शब्दावली	

'हजारी प्रसाद द्विवेदी'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनका जन्म 19 अगस्त, 1907 में उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के एक गाँव में हुआ। हिंदी के शीर्षस्थ साहित्यकारों में द्विवेदीजी की गणना होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे उच्चकोटि के निबंधकार, उपन्यासकार, आलोचक, चिंतक तथा इन सबसे बढ़कर एक उच्च दर्जे के शोधकर्ता थे। इनके शोध का परिणाम ही है कि साहित्य के इतिहास विभाजन में जिन गिने चुने इतिहासकारों की चर्चा होती है, द्विवेदीजी उनमें एक हैं।

द्विवेदी जी का प्रारंभिक जीवन उत्तर प्रदेश में ही बीता। इनकी कर्मभूमि वाराणसी रही, इसी पावन भूमि पर इन्होंने अध्यापन, संपादन के साथ-साथ रचनाकार की भूमिका निभाई। हिंदी गद्य-साहित्य के लगभग सभी विधाओं में इन्होंने अपनी लेखनी चलाई। इन सभी क्षेत्रों में द्विवेदी जी अपनी प्रतिभा और विशिष्ट कर्तव्य के कारण विशेष यश के भागी हुए हैं। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व गरिमामय, चित्रवृत्ति उदार और दृष्टिकोण व्यापक धरातल को स्पर्श करती थी। उनके इस व्यक्तित्व की छाप उनकी हर रचना में देखने को मिलती है।

श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को जन्में हिंदी साहित्य की इस विभूति को ज्योतिष का भी भरपूर ज्ञान था। इनके पितामह, इनकी माता, सभी उच्चकुल के ब्राह्मण थे, इसलिए संस्कृत की जानकारी ही नहीं बल्कि संस्कृत पर इनकी पूरी पकड़ थी। इसलिए पारिवारिक परंपरा के अनुरूप इन्होंने संस्कृत पढ़ने से ही अपने शैक्षणिक जीवन का आरंभ किया था। 1930 में 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' से ज्योतिषाचार्य तथा इंटर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। तत्पश्चात् प्राध्यापक होकर शांति निकेतन चले गए और 1940 से 1950 तक वे वहाँ हिंदी भवन के निर्देशक के पद पर आसीन रहे। शांति निकेतन में रवीन्द्रनाथ टैगोर के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर 'मानवतावाद' के प्रति उनके मन में जिस आस्था की प्रतिष्ठा हुई, वह उनके भावी विकास में बहुत ही सहायक बनी। इसके बाद क्षितिज मोहन सेन, विधुशेखर भट्टाचार्य, और बनारसी दास चतुर्वेदी की सन्निकटता से इनकी साहित्यिक गतिविधि में अधिक सक्रियता आई। शांति निकेतन के शांत और अध्ययनपूर्ण वातावरण में इनके जीवन दर्शन, आस्था विश्वास, आदि की नींव पड़ी और दस वर्षों के इस अंतराल में इनके व्यक्तित्व का संपूर्ण निर्माण हुआ। 1950 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के अनुरोध पर द्विवेदी जी 'हिंदी विभाग' के अध्यक्ष होकर वहाँ चले गए।

1949 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी. लिट्. की उपाधि से सम्मानित किया। 1955 में वे प्रथम 'ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन' के सदस्य चुने गए तथा इनकी विद्वता और साहित्यिक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए 1957 में भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' की उपाधि से

अलंकृत किया। द्विवेदी जी कई वर्षों तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उप-सभापति, 'खोज विभाग' के निर्देशक तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक के पद पर आसीन रहकर, उन पदों को गौरवान्वित करते रहे।

द्विवेदी जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परंपरा के आलोचक थे, फिर भी साहित्य के एक अविच्छिन्न विकास परंपरा को देखने पर बल देकर द्विवेदी जी ने हिंदी समीक्षा को नयी दिशा प्रदान की। इनकी प्रमुख कृतियों में 1936 में 'सूर-साहित्य', 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (1940), 'प्राचीन भारत में कलात्मक विनोद' (1940), 'कबीर' (1942), वाणभट्ट की आत्मकथा (1947), 'अशोक के फूल' (1948), 'हिंदी साहित्य' (1952), 'विचार और वितर्क' (1954), 'कालिदास की लालित्य योजना' (1967) आदि हैं।

19 मई, 1979 में आचार्य द्विवेदी के निधन से हिंदी साहित्य समाज रो पड़ा किंतु इनकी हिंदी साहित्य को समर्पित लेखनी सदा-सदा के लिए अमर हो गईं।

क्या निराश हुआ जाए?

हजारी प्रसाद द्विवेदी

मेरा मन कभी-कभी बैठ जाता है। समाचारपत्रों में ठगी, डकैती, चोरी, तस्करी और भ्रष्टाचार के समाचार भरे रहते हैं। आरोप-प्रत्यारोप का कुछ ऐसा वातावरण बन गया है कि लगता है, देश में कोई ईमानदार आदमी रह ही नहीं गया है। हर व्यक्ति सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है। जो जितने ही ऊँचे पद पर है, उसमें उतने ही अधिक दोष दिखाए जाते हैं। एक बहुत बड़े आदमी ने मुझसे एक बार कहा था कि इस समय सुखी वही है जो कुछ नहीं करता, जो भी कुछ करेगा उसमें लोग दोष खोजने लगेंगे। उसके सारे गुण भुला दिए जाएंगे और दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाने लगेगा। दोष किसमें नहीं होते? यही कारण है कि हर आदमी दोषी अधिक दिख रहा है, गुणी कम या बिल्कुल नहीं। स्थिति अगर ऐसी है तो निश्चय ही चिंता का विषय है।

यही क्या भारतवर्ष है जिसका सपना तिलक और गांधी ने देखा था? विवेकानन्द और रामतीर्थ का आध्यात्मिक ऊँचाई वाला भारतवर्ष कहाँ है? रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मदनमोहन मालवीय का महान संस्कृति-सभ्यता वाला भारतवर्ष किस अतीत के गह्वर में डूब गया? आर्य और द्रविड़, हिंदू और मुसलमान, यूरोपीय और भारतीय आदर्शों की मिलनभूमि 'महामानव समुद्र' क्या सूख गया? मेरा मन कहता है, ऐसा हो नहीं सकता। हमारे महान मनीषियों के सपने का भारत है और रहेगा। ऊपर की सतह पर जितना भी कोलाहल और उथल-पुथल क्यों न दिखाई दे रही हो, नीचे शांत अचंचल गाम्भीर्य में अब भी भारत महान है, अनुकरणीय है। यह सही है कि इन दिनों कुछ ऐसा माहौल बना है कि ईमानदारी से मेहनत करके जीविका चलाने वाले निरीह और भोले भाले श्रमजीवी पिस रहे हैं, झूठ और फरेब का रोजगार करने वाले फल-फूल रहे हैं। ईमानदारी को मूर्खता का पर्याय समझा जाने लगा है, सच्चाई केवल भीरु और बेबस लोगों के हिस्से में पड़ी है। ऐसी स्थिति में जीवन के महान मूल्यों के बारे में लोगों की आस्था ही हिलने लगी है।

बात नई नहीं है। पर इसकी वीभत्सता शायद पहले कभी इतनी विकराल होकर नहीं प्रकट हुई। आज से चार सौ साल पहले बाबा तुलसीदास ने कुछ ऐसा ही माहौल देखा था। वे व्याकुल भाव से कह गए हैं :

सीदत साधु, साधुता सोचति,

खल बिलसत, हुलसति खलई है।

परंतु आधुनिक साधनों और सुविधाओं के साथ-साथ धन-संग्रह की प्रवृत्ति को जैसा बढ़ावा इस समय मिला है, वैसा उन दिनों नहीं था। 'खलई का हुलास' बेहिसाब बढ़ गया है और

उसी अनुपात में, बल्कि कुछ अधिक मात्रा में ही, 'साधुता का सोच' भी बढ़ा है। तुलसीदास ने महान जीवन-मूल्यों में आस्था नहीं छोड़ी थी। लगता है, उनके समकालीन अधिकांश लोगों ने भी नहीं छोड़ी थी, पर आज? आज भी छोड़ने की जरूरत नहीं है।

ऊपर-ऊपर जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह बहुत हाल की मनुष्य-निर्मित नीतियों की त्रुटियों की देन है। सदा मनुष्य-बुद्धि नई परिस्थितियों का सामना करने के लिए नए सामाजिक विधि-निषेधों को बनाती है, उनके ठीक साबित न होने पर उन्हें बदलती है। ऊहापोह, ग्रहण-त्याग, संशोधन-परिवर्धन का सिलसिला चलता ही रहता है। उथलपुथल भी होती है, कई बार दुर्व्यवस्था के कारण निरीह व्यक्तियों का कष्ट भी बढ़ता है, बहुधा सुविधाभोगी वर्ग की स्थिति में परिवर्तन के कारण व्यक्ति-विशेष बुरी तरह ध्वंस हो जाता है। नियम-कानून सबके लिए बनाए जाते हैं, पर मनुष्य-समाज बहुत जटिल प्रक्रियाओं से होकर, गुजरकर और भी जटिल होता है, सबके लिए कभी भी एक ही नियम सुखकर नहीं होते। मनुष्य की बुद्धि से निर्मित व्यवस्था हमेशा त्रुटि-युक्त होती है। सामयिक कायदे-कानून कभी युग-युग से परीक्षित आदर्शों से टकराते भी हैं, इससे ऊपरी सतह आलोड़ित भी होती है। यह पहले भी हुआ है, आगे भी होगा उसे देखकर हताश हो जाना ठीक नहीं है।

भारतवर्ष ने कभी-भी भौतिक वस्तुओं के संग्रह को महत्व नहीं दिया। उसकी दृष्टि में मनुष्य के भीतर जो महान आंतरिक तत्व स्थिर भाव से बैठा हुआ है, वही चरम और परम है। लोभ-मोह, काम-क्रोध आदि विकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं, पर उनको प्रधान शक्ति मान लेना और अपने मन और बुद्धि को उन्हीं के इशारे पर छोड़ देना बहुत निकृष्ट आचरण है। भारतवर्ष ने कभी भी इनको महत्व नहीं दिया, इन्हें सदा संयम के बंधन से बाँधकर रखने का प्रयत्न किया है। परंतु भूख की उपेक्षा नहीं की जा सकती, बीमार के लिए दवा की उपेक्षा नहीं की जा सकती, गुमराह को ठीक रास्ते पर ले आने के उपायों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हुआ यह है कि इस देश के कोटि-कोटि दरिद्रजनों की हीन अवस्था को दूर करने के लिए ऐसे अनेक कायदे-कानून बनाए गए हैं जो कृषि, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और स्वास्थ्य की स्थिति को अधिक उन्नत और सुचारु बनाने के लक्ष्य से प्रेरित है। अपने-आप में यह लक्ष्य बहुत ही उत्तम है, परंतु जिन लोगों को इन कार्यों में लगना है उनका मन सब समय पवित्र नहीं होता। प्रायः ही वे लक्ष्य को भूल जाते हैं और अपनी ही सुख-सुविधा की ओर ज्यादा ध्यान देने लगते हैं। व्यक्ति चित्त सब समय आदर्शों द्वारा चालित नहीं होता। जितने बड़े पैमाने पर इन क्षेत्रों में मनुष्य की उन्नति के विधान बनाए गए, उतनी ही मात्रा में लोभ-मोह जैसे विकार भी विस्तृत होते गए। लक्ष्य की बात भूल गई। आदर्शों को मजाक का विषय बनाया गया और संयम को दकियानूसी मान लिया गया। परिणाम जो होना था वह हो रहा है। यह कुछ थोड़े-से लोगों के बढ़ते हुए लोभ का नतीजा है, किंतु इससे भारतवर्ष के पुराने आदर्श और भी अधिक स्पष्ट रूप से महान और उपयोगी दिखाई देने लगे हैं।

भारतवर्ष सदा कानून को धर्म के रूप में देखता आ रहा है। आज एकाएक कानून और धर्म में अंतर कर दिया गया है। धर्म को धोखा नहीं दिया जा सकता, कानून को दिया जा सकता है। यही कारण है कि जो लोग धर्म-भीरु रूढ़िग्रस्त हैं, वे कानून की त्रुटियों से लाभ उठाने में संकोच नहीं करते।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण खोजे जा सकते हैं कि समाज के ऊपरवाले स्तर में चाहे जो भी हो रहा हो, भीतर-भीतर भारतवर्ष अब भी यह अनुभव कर रहा है कि धर्म कानून से बड़ी चीज है। अब भी सेवा, ईमानदारी, सच्चाई और आध्यात्मिकता के मूल्य बने हुए हैं। वे दब अवश्य गए हैं लेकिन नष्ट नहीं हुए। मनुष्य आज भी मनुष्य से प्रेम करता है, महिलाओं का सम्मान करता है, झूठ और चोरी को गलत समझता है, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने को पाप समझता है और कठिनाई में पड़े हुए बेबस लोगों की सहायता करने में अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है। हर आदमी अपने व्यक्तिगत जीवन में इस बात का अनुभव करता है। समाचारपत्रों में जो भ्रष्टाचार के प्रति इतना आक्रोश है, वह यही साबित करता है कि हम ऐसी चीजों को गलत समझते हैं और समाज से उन तत्वों की प्रतिष्ठा कम करना चाहते हैं जो गलत तरीके से धन या मान संग्रह करते हैं। दोषों का पर्दाफाश करना बुरी बात नहीं है। बुराई यह मालूम होती है कि किसी के आचरण के गलत पक्ष को उद्‌घाटित करते समय उसमें रस लिया जाता है और दोषोद्‌घाटन को एकमात्र कर्तव्य ही मान लिया जाता है। बुराई में रस लेना बुरी बात है, अच्छाई को उतना ही रस लेकर उजागर न करना और भी बुरी बात है। सैकड़ों घटनाएँ ऐसी घटती हैं, जिन्हें उजागर करने से लोकचित्त में अच्छाई के प्रति अच्छी भावना जागती है।

मैं एक बार रेलवे स्टेशन पर टिकिट लेने गया। गलती से मैंने दस रुपये के बदले सौ रुपये का नोट दे दिया। टिकिट बाबू ने उस समय वह रुपया रख लिया। मुझे पता भी नहीं चला कि मैंने कितनी बड़ी गलती की है। मैं जल्दी-जल्दी गाड़ी में आकर बैठ गया। थोड़ी देर में टिकिट बाबू उन दिनों के सैकेंड क्लास के डब्बे में हर आदमी का चेहरा पहचानता हुआ उपस्थित हुआ। उसने मुझे पहचान लिया और बड़ी विनम्रता के साथ मेरे हाथ में नब्बे रुपये रख दिए और कहा, "यह बहुत बड़ी गलती हो गई थी। आपने भी नहीं देखा, मैंने भी नहीं देखा।" उसके चेहरे पर विशेष संतोष की गरिमा थी। मैं चकित रह गया। कैसे कहूँ कि दुनिया से सच्चाई और ईमानदारी लुप्त हो गई है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं, परंतु यही एक घटना ठगी और वंचना की अनेक घटनाओं से अधिक शक्तिशाली है।

एक बार मैं बस में यात्रा कर रहा था। मेरे साथ मेरी पत्नी और तीन बच्चे भी थे। बस में कुछ खराबी थी, रुक-रुककर चलती थी। गंतव्य से कोई पाँच मील पहले ही एक निर्जन सुनसान स्थान में बस ने जवाब दे दिया। रात के कोई दस बजे होंगे। बस के यात्री घबड़ा गए। कंडक्टर ऊपर गया और एक साइकिल लेकर चलता बना। लोगों को संदेह हो गया कि हमको धोखा दिया जा रहा है। बस में बैठे लोगों ने तरह-तरह की बातें शुरू कर दीं। किसी ने कहा, "यहाँ

डकैती होती है। दो दिन पहले इसी तरह एक बस को लूट लिया गया।" परिवार सहित अकेला मैं ही था। बच्चे 'पानी', 'पानी' चिल्ला रहे थे। पानी का कहीं ठिकाना नहीं था। ऊपर से आदमियों में डर समा गया था। कुछ नौजवान लोगों ने ड्राइवर को पकड़कर मारने-पीटने का हिसाब बनाया। ड्राइवर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। लोगों ने उसे पकड़ लिया। वह बड़े कातर ढंग से मेरी ओर देखने लगा और बोला, "हमलोग बस का कोई उपाय कर रहे हैं, बचाइए, ये लोग मारेंगे।" डर तो मेरे मन में भी था, पर उसकी कातर मुद्रा देखकर मैंने और यात्रियों को समझाया कि मारना ठीक नहीं है। परंतु यात्री इतना घबड़ा गए थे कि वे मेरी बात सुनने को तैयार नहीं हुए। वे लोग कहने लगे, "इसकी बातों में मत आइए, धोखा दे रहा है। कंडक्टर को पहले ही डाकुओं के यहाँ भेज दिया है।" मैं भी भयभीत था, पर ड्राइवर को किसी तरह मारपीट से बचाया। डेढ़-दो घंटे बीत गए। मेरे बच्चे खाना और पानी के लिए व्याकुल थे। मेरी और मेरी पत्नी की हालत बुरी थी। लोगों ने ड्राइवर को मारा तो नहीं, पर उसे बस से उतारकर एक जगह घेरकर रखा। कोई दुर्घटना होती है तो पहले ड्राइवर को समाप्त कर देना उन्हें उचित जान पड़ा। मेरे गिड़गिड़ाने का कोई विशेष असर नहीं पड़ा। इसी समय क्या देखता हूँ कि एक खाली बस चली आ रही है और उस पर हमारी बस का कंडक्टर बैठा हुआ है। उसने आते ही कहा, "अड्डे से नई बस लाया हूँ, इस पर बैठिए। यह बस चलने लायक नहीं है।" फिर मेरे पास एक लोटे में पानी और थोड़ा दूध लेकर आया और बोला, "पंडितजी! बच्चों का रोना मुझसे नहीं देखा गया। वहीं दूध मिल गया, थोड़ा लेता आया।" यात्रियों को फिर जान में जान आई। सबों ने उसे धन्यवाद दिया। ड्राइवर से माफी माँगी और बारह बजे से पहले ही सब लोग बस अड्डे पर पहुँच गए। कैसे कहूँ कि मनुष्यता एकदम समाप्त हो गई। कैसे कहूँ कि लोगों में दया माया रह ही नहीं गई। जीवन में न जाने कितनी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता।

ठगा भी गया हूँ, धोखा भी खाया है, परंतु बहुत कम स्थलों पर विश्वासघात नाम की चीज मिली है। केवल उन्हीं बातों का हिसाब रखूँ, जिनमें धोखा खाया है तो जीवन कष्टकर हो जाएगा। परंतु ऐसी घटनाएँ बहुत कम नहीं हैं, जहाँ लोगों ने अकारण सहायता की है, निराश मन को ढाढ़स दिया है और हिम्मत बँधाई है। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने एक प्रार्थना गीत में भगवान से प्रार्थना की थी कि 'संसार में केवल नुकसान ही उठाना पड़े, धोखा खाना ही पड़े तो ऐसे अवसरों पर भी हे प्रभो! ऐसी शक्ति दो कि मैं तुम्हारे ऊपर संदेह न करूँ।'

संसारेते लभिले क्षति, पाइले सुधु वंचना

तोमाके जेन न करि संशय।

मनुष्य की बनायी विधियाँ गलत नतीजे तक पहुँच रही है तो उन्हें बदलना होगा। वस्तुतः आए दिन इन्हें बदला ही जा रहा है। लेकिन अब भी आशा की ज्योति बुझी नहीं है। महान भारतवर्ष को पाने की संभावना बनी हुई है, बनी रहेगी।

मेरे मन! निराश होने की जरूरत नहीं है।

....

'महादेवी वर्मा'

26 मार्च, 1907 में फर्रूखाबाद के एक ऐसे परिवार में जहाँ कई पीढ़ियों से कोई कन्या पैदा नहीं हुई थी और हुई तो भी मार दी जाती थीं, वहाँ महादेवी का जन्म लेना और जीवित रहना किसी आश्चर्य से कम नहीं। नवरात्रि के दिनों में पैदा हुई महादेवी का नामकरण इसी कारण हुआ। महादेवी वर्मा ने पंचतंत्र और संस्कृत का अध्ययन किया था। कविता लेखन का शौक तो इन्हें बचपन से ही था इसलिए काव्य-प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेती थीं। कहा जाता है कि किसी काव्य-प्रतियोगिता में इन्हें 'चाँदी का कटोरा' मिला था, जिसे इन्होंने गांधीजी को दे दिया था। कवि सम्मेलनों में जातीं तो सत्याग्रह आंदोलन के दौरान उन सम्मेलनों में अपनी कविताएँ सुनातीं और हमेशा प्रथम पुरस्कार की हकदार बनती थीं।

छायावाद के चार प्रमुख स्तंभों में एक मात्र महिला रचनाकार 'महादेवी वर्मा' को आधुनिक काल की 'मीरा' कहा जाता है। छायावादी रहस्यवाद की प्रमुख कवयित्री महादेवी हिंदुस्तानी स्त्री की उदारता, करुणा, सात्विकता, आधुनिक बौद्धिकता, गंभीरता और सरलता इनके व्यक्तित्व में समाविष्ट हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की विलक्षणता से अभिभूत रचनाकारों ने उन्हें 'साहित्य साम्राज्ञी', 'शारदा की प्रतिमा' आदि विशेषणों से अभिहित करके अपनी असाधारणता को लक्षित किया। छायावाद की भूमि ग्रहण करने के बावजूद सामयिक समस्याओं के निवारण में महादेवी वर्मा ने सक्रिय भागीदारी निभाई। इन्होंने इलाहाबाद में 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' की स्थापना की और स्वयं उस संस्थान की प्रधानाचार्य और कुलपति भी रहीं। 1932 में इन्होंने महिलाओं की प्रमुख पत्रिका 'चांद' का कार्यभार संभाला। साहित्यकार संसद, 'रंगवाणी नाट्य संस्था' आदि कई प्रमुख संस्थाओं की स्थापना का श्रेय महादेवी को जाता है।

'यामा' में उनके प्रथम विशिष्ट चार काव्य-संग्रहों की कविताओं का एक साथ संकलन हुआ। 'आधुनिक कवि महादेवी' में उनके समस्त काव्य से उन्हीं द्वारा चुनी हुई कविताएं संकलित हैं लेकिन कवयित्री ही नहीं वे गद्य लेखिका के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित करने में सफल सिद्ध हुईं। 'स्मृति की रेखाएँ' (1943), 'अतीत के चलचित्र' (1941) उनकी संस्मरणात्मक गद्य रचनाओं के संग्रह हैं। इनकी अत्यधिक प्रसिद्ध विचारात्मक निबंधों का संग्रह 'श्रृंखला की कड़ियां' हैं जो सामाजिक समस्याओं विशेषकर अभिशप्त नारी जीवन के जलते प्रश्नों के संबंध में लिखे गए। इनके अतिरिक्त उनके 18 काव्य और गद्य कृतियाँ हैं जिनमें 'मेरा परिवार', 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी' आदि प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

महादेवी हिंदी के भक्त कवियों की रचनाओं और भगवान बुद्ध के चरित्र से अत्यंत प्रभावित थीं। उनके गीतों में प्रवाहित करुणा के अनंत स्रोत को इसी कोण से समझा जा सकता है। वेदना और करुणा महादेवी के गीतों की मुख्य प्रवृत्ति है। असीम दुःख के भाव से ही इनके गीतों का आरंभ और अंत दोनों होता है।

महादेवी ने हिंदी को कोमलता और मधुरता से संसिक्त कर सहज मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का द्वार खोल दिया। विरह को दीपशिखा का गौरव दिया तथा व्यष्टिमूलक मानवतावादी काव्य के चिंतन को प्रतिष्ठापित किया। इनके गीतों का नाद सौंदर्य, पैनी उक्तियों की व्यंजना शैली अन्यत्र दुर्लभ हैं। सात वर्ष की उम्र में ही अपनी माँ को पूजा करती देख वे कहती हैं -

"ठंडे पानी से नहलाती
ठंडा चंदन उन्हें लगाती
उनका भोग हमें दे जाती
तब भी कभी न बोले हैं
माँ के ठाकुर जी भोले हैं।

11 सितंबर, 1987 में प्रयाग के संगम में महादेवी ने अपने जीवन तार का संगम कर हिंदी साहित्य से अंतिम विदाई ले ली और हिंदी साहित्य सदा-सदा के लिए उनका ऋणी बनकर रह गया।

घीसा

महादेवी वर्मा

सात

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को संपूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता, तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हें-से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती, जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनंत जलराशि में विलीन हो गया है।

गंगा पार झूँसी के खँडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है, उसे देख कर ही संभवतः लोग जन्म-जन्मांतर के संबंध का व्यंग करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं, उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर-पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुंड पीतल-तांबे के चमचमाते मिट्टी के नए लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है, उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती हैं। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेर कर उसकी उदासी को और अधिक केंद्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रहकर हीरे-से चमक जाते हैं और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चंदन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झनकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँकभर लेती है और किसी की ढारें लंबी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती है। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियां बना देती है।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं, फिर पानी में कुछ घुसकर घड़ा भर लेती हैं– तब घड़ा किनारे रख, सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलिन, कभी उजली, कभी

दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने-मेरे बीच का अंतर उन्हें ज्ञात है, तभी कदाचित वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैसों में से किसी को उस ओर बहकती देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते, गड़रियों के बच्चे अपने झुंड की एक भी बकरी या भेंड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह, कभी-कभी 'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अचकचा कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करने वालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती, कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया, पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के, मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गए, तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गंभीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथों में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊँची धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लंबा कुरता पहने खेत में डराने के लिए खड़े किए हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की उपेक्षा बटोर बैठे थे, पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। संध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिपकर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाव वाला कुछ चिंतित-सा लहरों की ओर देख रहा था, बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर बढ़ते अंधकार पर खिजलाकर बुदबुदा रही थी, या मुझे कुछ सनकी बनाने वाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लंबे वर्ष काट आई है, नौकरानी से अपने-आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परंतु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है? सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परंतु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अंधकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। साँवले, कुछ लंबे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी पर

व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन, बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूका रहित अंगों को भलीभाँति ढँक लिया था, परंतु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कंधे पर हाथ रखकर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाए हुए थी, उसे मैंने संध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुककर कुछ शब्दों और कुछ संकेत में जो कहा, उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूं, तो यह कुछ तो सीख सके।

दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग, पर गठन में विशेष सुडौल, मलिन मुख जिसमें दो पीली, पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बंद किए हुए पतले होंठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियों वाली गर्दन को संभाले हुए झुके कंधों से, रक्तहीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों युक्त हाथों वाली पतली बाँहें ऐसी झूलती थीं, जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएँ। निरंतर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे। —बस ऐसा ही था वह, न नाम में कवित्व की गुंजाइश, न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरंतर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सभी विद्या-बुद्धि को सीख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था, वरन इसलिए कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितांत आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर समझा दी थी। –यह भी उन्होंने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाए फिरती थी। उसे एक ओर लिटाकर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी, तब पेट के बल घसिट-घसिट कर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोककर अनेक प्रकार की भाव-भंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी जाना।

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़ कर वह थोड़ी बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं,

एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुंदरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परंतु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट-किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरंभ किया, तब अचानक हैजे के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया, जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी, न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश ही उसकी नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परंतु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया, प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तीत भी कर दिया। कहा– 'हम सिंह के मेहरारू होइके का सियारन के जाब।' फिर बिना स्वर-ताल के आंसू गिराकर, बाल खोलकर, चूड़ियाँ फोड़कर और बिना किनारे की धोती पहनकर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वांग भरना आरंभ किया, तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परंतु उस समय के संबंध में क्या कहा जाए, जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खिंचकर एक साल की अवधि तक पहुंच गया, तो इसमें गाँव वालों का क्या दोष!

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनाई तो गई थी मेरा मन फेरने के लिए, और मन फिरा भी, परंतु किसी सनातन नियम से कथावाचक की ओर न फिर कर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-संबंधी अपवाद कदाचित पूरा नहीं समझ पाया था, परंतु अधूरे का भी प्रभाव उस पर कम न था, क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था, मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-से-छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गंभीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊं और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ – परंतु उस उपेक्षिता, पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी, वह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है, यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देखकर उसकी मातृ-भक्ति के संबंध में कुछ संदेह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा, जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक मैले, फटे कपड़े में बंधी मोटी-रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने-बुहारने के पश्चात वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टांगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिए हुए ही साथियों को सुनाने के लिए गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता, जहाँ न जाने कितनी बार दुहराए-तिहराए हुए कार्यक्रम की एक अंतिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बार-बार झाड़-पोंछकर बिछाई जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे कांच की दावात, टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे, हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकालकर यथास्थान रख दी जाती और तब इस विचित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े-से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला, वह चित्र के एल्बम के समान निरंतर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबंध किए हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे-के-तैसे ही सामने थे— केवल कुछ गंगाजी में मुंह इस तरह धो आए थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ के हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेरी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट-से मैले फटे पुराने कुर्ते घर ही छोड़कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे, जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है, गए अचंभा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे, पर घीसा गायब था। पूछने पर लड़के कानाफूसी करने का या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़कर समझना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था – माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दुकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़कर पहले साबुन लेने गई। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है, क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा धोकर साफ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे। किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता, जिसकी एक आस्तीन आधी थी, और एक अंगोछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहाकर गीला अंगोछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने

अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ, तब आँखें ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य का अँगूठा कैसे कटवा लिया था। एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए 5-6 सेर जलेबियाँ ले गई, पर कुछ तोलने वाले की सफाई से, कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था- मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया – मेरी अमुक ने छीन ली। तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए। चौथे को किसी और की याद आ गई। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया, यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था– 'सार एक ठो पिलवा पाले है, ओही का देय बरे गा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था– जलखई वाले छन्ने में दो जलेबियाँ लपेट कर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना मां के कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी संकोच भरी आंखें झुक गईं-– ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित है, जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुंच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था– दवा मैं भिजवा देती थी, परंतु देख-भाल का कोई ठीक प्रबंध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी मां स्वयं बैठी रही। फिर एक अंधी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं बच्चों को विदा दे, घीसा को देखने चली, परंतु पीपल के पचास पग पर पहुँचते-पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख, मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पंद्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपातग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आंखें और भी सतेज और मुख ऐसा था, जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होनेवाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वातग्रस्त होने से भी अधिक चिंताजनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था, पर पानी पास मिला नहीं और मनियां की अंधी आजी से माँगना ठीक न समझकर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौटकर दरवाजे से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार, कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा, पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गई। पार तो मुझे पहुँचना था ही, पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझाकर, जिससे उसकी स्थिति और गंभीर न हो जाए। पर सदा के संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में गहरा रंग भरकर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया, जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठकर दूर-दूर से आए हुए बहुत से विद्यार्थी हैं जो अपनी माँ के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जाएंगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसा बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं। ... और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते, उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा, तो उसके भगवान जी गुस्सा हो जाएंगे। क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं, आदि-आदि उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर जाता है। परंतु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी, तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरांत घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँधकर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा— झाड़ते-झाड़ते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर तथा कंकालशेषी शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस भ्रांत बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से संध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया, परंतु पता चला, घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बार-बार धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है, मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो, जिसकी तपस्या भंग के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़े हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उंगली धर दी, जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था, तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न! कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियां रखकर गिने जाएँ, या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर चूहों के आक्रमण की ही समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिंतित सी वहाँ से चली, तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डॉक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का संदेह

हो रहा था– ऑपरेशन की संभावना थी। कब लौटूँगी या नहीं लौटूँगी, यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली, वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे कच्चे घर आकंठ मग्न हो गए थे- केवल फूस के मटमैले और खपरैले कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी-जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज और खरबूजे के खेत अपनी सिरकी और फूस के मुट्ठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदि द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे, तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा। यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देना है, यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदना-शक्ति से जान रहा था, इसमें सन्देह नहीं था। परंतु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे बिछोह की कितनी व्यथा हो सकती है, यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूलि में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगने वाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था, जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ बंद गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत– तब क्या वह इसे चुरा लाया है। मन का संदेह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को बनाने वाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं, जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रखकर निश्चिंत हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवानजी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में जाने क्यों देर हो गई तब उसे अकेले ही खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था, जिसकी उसके नए कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता रहता था जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है, उनके लिए परोसा लगाने वाले पागल होते हैं। उसने कहा- पैसा नहीं है, तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता? इससे कुरता दे आया, पर गुरु साहब को चिंता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो, इसलिए कटवाना पड़ा– मीठा है या नहीं यह देखने के लिए उंगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें, तो घीसा रात भर रोएगा– छुट्टी भर रोएगा। ले जावें तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिखकर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परंतु उस दक्षिणा के सामने संसार में अब तक सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबंध कर मैं बाहर चली गई और लौटते-लौटते कई महीने लग गए। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही संभव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका, तब घीसा को उसके भगवान जी ने सदा के लिए पढ़ने का अवकाश दे दिया था– आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है, पर संभव है आज के कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक समान धीर-भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अंत बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढती रहूँ।

शुकदेव प्रसाद

हिंदी में विज्ञान लेखन के एक अप्रतिम हस्ताक्षर 24 अक्टूबर, 1954 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के एक शिक्षक परिवार में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से वनस्पति विज्ञान में एम. एस. सी. की डिग्री लेने के साथ-साथ इन्होंने हिंदी में भी एम. ए. किया था।

देश के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में इनके विज्ञान संबंधी दो सौ से अधिक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही इन्होंने लोक विज्ञापन की 75 से अधिक पुस्तकों की रचना भी की है। 'विज्ञान वैचारिकी' एवं 'पर्यावरण दर्शन' नामक पत्रिकाओं के कुशल संपादन के साथ-साथ कई अन्य प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के अतिथि संपादक भी रह चुके हैं।

अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित श्री शुकदेव प्रसाद विज्ञान वैचारिकी अकादमी, इलाहाबाद के निदेशक हैं।

इनकी कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों के नाम हैं – परिवहन की कहानी, विश्व विज्ञान कथाएँ, बाल विज्ञान कथाएँ, भारतीय विज्ञान कथाएँ -2 खंड आदि।

पर्यावरण संरक्षण

शुकदेव प्रसाद

पर्यावरण केवल विकासशील राष्ट्रों की ही नहीं, समूचे विश्व की समस्या है, क्योंकि संपूर्ण वसुधा एक है और उस पर रहने वाले सारे जीवधारी पर्यावरण में हुए किसी भी बदलाव से अवश्य ही प्रभावित होंगे। कहने को तो हमारे चारों ओर का वायुमंडल, जिसमें हम रहते हैं और अन्य जीवधारी, सब मिलकर पर्यावरण (environment) बनाते हैं; किंतु वास्तव में पर्यावरण बड़ा व्यापक शब्द है। पर्यावरण का तात्पर्य उस समूची भौतिक एवं जैविक व्यवस्था से है जिसमें जीवधारी रहते हैं, बढ़ते-पनपते हैं और अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास करते हैं। प्रकृति अपनी ओर से सभी संघटकों का अनुपात हमेशा ठीक बनाए रखने की भरसक चेष्टा करती है; लेकिन मानव ने प्रकृति को छेड़कर उसकी मूल संरचना में, व्यवस्था में दखलंदाजी की है और फलस्वरूप पर्यावरण की बिगड़ती दशा आज समूचे सभ्य संसार के लिए चर्चा का विषय है।

विकासशील राष्ट्र होड़-सी लगाकर अधिकाधिक औद्योगीकरण करते जा रहे हैं, जिसके कारण ऊर्जा के इन प्राकृतिक भंडारों का खुलकर अपव्यय हो रहा है। ये भंडार सीमित हैं और कुछ वर्षों में समाप्त हो जाएंगे। अभी भी सारी दुनिया भीषण ऊर्जा के संकट के दौर से गुजर रही है और ऊर्जा के नए स्रोत खोजे जा रहे हैं। इस प्रकार फॉसिल ईंधनों का विनाश हमारे लिए दो तरह से घातक है – (1) ऊर्जा की कमी और (2) वातावरण में कार्बनडाइआक्साइड की वृद्धि।

कोयला बनाने के लिए तथा खेती और बस्तियों का विस्तार करने के लिए वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। जंगलों के पेड़-पौधे वायु की कार्बन डाइआक्साइड का उपयोग अपना खाद्य तैयार करने में कर लेते हैं, लेकिन वन-विनाश होने से कार्बन डाइआक्साइड की वृद्धि रोकनी असंभव प्रतीत होती है। वन-विनाश से पहाड़ी क्षेत्रों में भू-क्षरण और भू-स्खलन होता है तथा मैदानों में नदियों में प्रति वर्ष बाढ़ें आती हैं।

स्पष्ट है कि हमने प्रकृति का दोहन अपने उपयोग के लिए अविवेकपूर्ण तरीके से किया है। अतः दोषी हम हैं और इसी नाते परिणाम भी हमें ही भुगतना होगा। हम प्रकृति की संतान हैं, स्वामी नहीं।

वास्तव में हम प्रकृति की संतान हैं और प्रकृति हमारी पोषक-रक्षक। पर हमने उसे मात्र भोग्या समझा, उस पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। यही हमने भूल की। प्रकृति का स्वामी बनने की लालसा ही हमारे पतन का, या यों कहिए कि मानव और प्रकृति के बीच उत्पन्न खाई का कारण है।

प्रो. शूमाखर अपनी बहुचर्चित कृति 'स्माल इज ब्यूटीफुल, में टाम डेल और वर्नन गिल कार्टन की 'टाप स्वाएल एंड सिविलिजेशन' (1955) से उद्धृत करते हैं –

"सभ्य मानव लगभग सदा ही अपने पर्यावरण पर अस्थायी प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त करता रहा है। उसकी मुख्य कठिनाइयां तभी आरंभ हुईं जब वह इस भ्रम का शिकार हो गया कि उसका प्रभुत्व अस्थायी नहीं, बल्कि स्थायी है। वह प्रकृति के नियमों को ठीक से समझने में गलती करते हुए भी अपने-आपको दुनिया का मालिक समझने लगा।"

"मानव सभ्य हो या बर्बर, प्रकृति की संतान है, उसका स्वामी नहीं। यदि उसे अपने पर्यावरण पर प्रभुत्व बनाए रखना है तो उसके लिए कतिपय प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलना आवश्यक है। वह जब प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है, तभी वह उस प्राकृतिक पर्यावरण को नष्ट कर बैठता है जिस पर उसका अपना जीवन निर्भर है, और जब उसका पर्यावरण तेजी से बिगड़ने लगता है तब उसकी सभ्यता का पतन भी होने लगता है।"

किसी ने यह कहकर इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा बताई है कि "सभ्य मानव पृथ्वी के एक छोर से चलकर दूसरे छोर पर पहुँच गया है और वह जहाँ से भी गुजरा है, वहीं भूमि मरुस्थल हो गई है।" इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, लेकिन यह बेबुनियाद नहीं है। सभ्य मानव जहाँ भी लंबे समय तक रहा है उसने वहाँ की भूमि को बर्बाद कर दिया है। इसीलिए प्रगामी सभ्यताएं स्थान परिवर्तन करती रही हैं। पुराने बसे प्रदेशों की सभ्यताओं के पतन का यही मुख्य कारण रहा है। इतिहास की सभी प्रवृत्तियों का भी यही मुख्य कारण रहा है।

औद्योगिक संस्कृति और बढ़ती आबादी

ऊर्जा हमारे जीवन का पर्याय है। औद्योगिक विकास का मूलाधार भी यही है। लेकिन विकास के साथ ही हमने प्रकृति को खोखला कर डाला है। प्राकृतिक संपदा का ऐसा खुलकर अपव्यय किया है जिसकी भरपाई संभव नहीं है। हमने तात्कालिक लाभ के लिए दूरगामी दुष्प्रभावों को ताक पर रख दिया है, क्योंकि टेक्नालाजी के विकास के जरिए आधुनिक विकास की दौड़ में हम लगे हुए हैं।

पूर्वकाल की सभ्यताओं के साथ बात उलटी थी। वे प्रकृति को प्राकृतिक संसाधनों का खजाना मात्र नहीं मानती थी। उसके हर रूप में देवी स्वरूप का दर्शन करती थीं, लेकिन टेक्नालाजी से उद्‌भूत सभ्यता उपभोगवादी संस्कृति की कायल है। उसकी दृष्टि में प्रकृति तो केवल उसके लिए संसाधनों का भंडार मात्र है, जिसके उपयोग की उसे पूरी छूट है। यही भ्रम परेशानी का कारण बन गया। थोड़े से मुट्ठीभर विकसित राष्ट्रों ने अपने स्वार्थ साधने के लिए सारी दुनिया के लिए संकट उत्पन्न कर दिया है। चूँकि प्रकृति या पर्यावरण सार्वभौम (Universal) है और सभी जीवधारी उसके अभिन्न अंग है, अतः किसी एक की कुचेष्टा दूसरे के लिए कष्ट का कारण कभी भी बन सकती है। यदि आज भौतिकवादी सभ्यताओं के अनुरूप पाश्चात्य जगत के मानव का जीवन-स्तर ऊँचा है तो वह अन्य विकासशील राष्ट्रों के साधारण नागरिकों के अधिकारों पर अत्याचार करके ही। प्रो. गून्नार मर्डल ठीक ही कहते हैं कि "पश्चिमी राष्ट्र

अपव्यय, प्रदूषण और धरती के संसाधनों के अंधाधुंध दोहन की भयानक कीमत पर ही अपने जीवन-यापन का स्तर ऊंचा बनाए रख पा रहे हैं।

वस्तुतः आज उद्योग हमारी समृद्धि के मापदंड बन गए हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका, जिसकी जनसंख्या संपूर्ण विश्व की केवल 7 प्रतिशत है, संपूर्ण ऊर्जा 32 प्रतिशत यानी एक-तिहाई उपयोग करता है, और विश्व की जनसंख्या के 20 प्रतिशत वाला भू-भाग, भारत, संपूर्ण संसार में प्राप्त कुल ऊर्जा का मात्र 1 प्रतिशत उपयोग करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक-अमेरिकी नागरिक एक भारतीय की तुलना में 40 गुनी अधिक ऊर्जा व्यय करता है। स्वाभाविक है, यह अति औद्योगिक संस्कृति, जो मात्र उपभोगवादी है, प्रकृति को छिन्न-भिन्न करने के साथ ही उसमें गैसीय असंतुलन उत्पन्न कर रही है, जो आने वाली पीढ़ियों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बनकर उभरेगा। असंतुलन में कमी आए, फिलहाल ऐसा नहीं लगता। विद्वानों का अनुमान है कि आज से 20-30 लाख वर्ष पूर्व मानव का इस धरा पर प्रादुर्भाव हुआ था, और सन 1830 तक दुनिया की कुल आबादी केवल एक अरब थी। किंतु अगले सौ वर्षों में ही अर्थात सन 1930 तक आबादी दुगुनी हो गई। यानी जितनी जनसंख्या लाखों सालों में उत्पन्न हुई, उतनी इधर के मात्र 100 वर्षों में ही पैदा हो गई। आबादी की बढ़ती रफ्तार ने और गति पकड़ी। अगली एक अरब की वृद्धि केवल 30 वर्षों में ही हो गई। इस प्रकार 1960 तक 3 अरब नर-नारी इस धरती पर हो गए और फिर अगले 15 वर्षों में ही यानी 1975 तक आबादी बढ़कर 4 अरब हो गई। अब अनुमान है कि सन 2000 तक जनसंख्या लगभग 7 अरब हो जाएगी। इस बेतहाशा वृद्धि का प्रभाव हमारे सामाजिक मूल्यों पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

जीवधारियों का नाश

बढ़ती आबादी के साथ कल-कारखाने, उद्योग भी बढ़ते जा रहे हैं। मोटरगाड़ियां भी उसी अनुपात में बढ़ती जा रही हैं। अति आवागमन और शोर-शराबे के बीच मानव की श्रवण-शक्ति कमजोर होती जा रही है। आश्चर्य नहीं कि आने वाले 2-3 दशकों बाद बच्चे अत्यंत कम सुनने की क्षमता वाले हों अथवा बहरे ही पैदा हों। मिलों, कारखानों के कर्मचारी ढलती वय में इसका स्पष्ट अनुभव करते हैं।

उद्योगों ने वायु, जल और हमारे रोजमर्रा के जीवन में जहर घोल दिया है। इस अभिशाप से हम मुक्त भी हो सकेंगे, यह कहना असंभव है। यदि प्रदूषणरहित टेक्नालाजी का विकास संभव हुआ तो उम्मीद की जाती है कि जनजीवन के स्वास्थ्य की रक्षा हो सके।

बिगड़े हुए पर्यावरण से मानव ही नहीं, अन्य जीवधारी भी आतंकित हैं, जिनकी सहनशक्ति हम-आप से कम है। इसका अहसास हमें होता है किसी जीव की विलुप्ति से। स्वीडन के प्राणीविज्ञानी कार कुरी लिंड्हल के अनुसार इस धरती की लगभग 300 से अधिक जातियाँ (Species) तथा उपजातियाँ (Sub-species) लुप्त हो चुकी हैं। अनुमानतः वर्तमान सदी में

भूमंडल पर कहीं-न-कहीं प्रतिवर्ष एक जाति का लोप हो रहा है। जीवधारियों के विलुप्तीकरण का सीधा संबंध हमारे पर्यावरण से है जो उनके प्रतिकूल बनता जा रहा है। प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवधारियों का अस्तित्व खतरे में है। ये सारी परिस्थितियां प्रदूषणजन्य हैं।

मौसम भी बदले

वातावरण में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा बढ़ रही है। फोंसिल ईंधन अर्थात कोयला, तेल के जलने से इस गैस की बड़ी मात्रा वातावरण में विमुक्त होती है। सामान्य स्थितियों में पौधे इसे खींचकर प्राणवायु (ऑक्सीजन) मुक्त करते हैं। लेकिन वन-विनाश और शहरीकरण की प्रवृत्ति से दिनोंदिन इस प्राकृतिक व्यवस्था में बाधा उत्पन्न हो रही है। फलस्वरूप कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा वायुमंडल में पर्याप्त मात्रा में व्याप्त रहती है। यह गैस धूप को गुजरने देती है, किंतु पृथ्वी के वायुमंडल से ताप को पुन: विकरित नहीं होने देती और इस नाते वायुमंडल का ताप धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यदि वातावरण में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा इसी प्रकार बढ़ती रही तो अगले 30-40 वर्षों में धरती के ताप में 3^0 से 5^0 तक की अनावश्यक वृद्धि हो जाएगी। फलस्वरूप शीतोष्ण क्षेत्र रेगिस्तान हो सकते हैं तथा ध्रुवों की बर्फें पिघल सकती हैं, जिससे जल-प्लावन की संभावना हो सकती है।

हमारे वातावरण में कुछ ऊँचाई पर ओजोन (O_3) की एक परत है, जो सूर्य की पराबैंगनी किरणों से हमारी रक्षा करती है। ये घातक किरणें उस परत में अवशोषित हो जाती हैं और दोषमुक्त धूप हमें प्राप्त होती हैं। यदि यह सुरक्षा-आवरण न होता तो तमाम जीवधारी धूप-ताम्रता (sun-burn) और त्वचा-कैंसर से पीड़ित हो जाते। अभी पता चला है कि बहुत-से उद्योगों से मुक्त होने वाले रसायन, खासकर फ्लोरोकार्बन ओजोन पट्टी में पहुँचकर रासायनिक प्रक्रिया से उसका क्षय करते हैं। यदि इन रसायनों के मुक्त होने की यही दर रही तो अगले 40 वर्षों में धरती की ओजोन पट्टी में कम-से-कम 24-30 प्रतिशत की क्षति हो सकती है जो त्वचा-कैंसर के रूप में मानव तथा पशुओं को क्षति पहुँचा सकती है तथा इसके प्रभाव से वायुमंडल में परिवर्तन हो सकता है, मौसम भी प्रभावित हो सकता है।

बचाव कैसे करें?

जरूरत है प्रदूषण रहित टेक्नालाजी की। विज्ञान और टेक्नालाजी तो आज के युग के अभिन्न अंग हैं जिनसे अलग हो पाना कोरी कल्पना की बात है। उद्योगों का विकल्प भला क्या होगा? हाँ, हम उद्योगों में ऐसी टेक्नालाजी विकसित करें जो प्रदूषण-रहित हो, अर्थात औद्योगिक कचरे का विनाश ऐसे ढंग से हो कि वह वायु अथवा जल को प्रदूषित न कर सके।

वन संरक्षण—एक आंदोलन : वन आदि संस्कृतियों के पोषक तो थे ही, कमोबेश आज भी हैं। वन हमारे रक्षक हैं। इनमें भू-क्षरण तथा भू-स्खलन और बाढ़ें रुकती हैं। ये शोर-प्रदूषण भी कम करते हैं। फैक्टरियों या प्रयोगशालाओं के आसपास वृक्ष रोपे जाने चाहिए ताकि शोर की मात्रा

कुछ तो कम हो। इस प्रकार वन-रोपण को सामाजिक वानिकी का महत्वपूर्ण अंग मानना चाहिए और राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम के रूप में अपनाया जाना चाहिए।

उत्तर भारत में हिमालय के दुःखद वन-विनाश के खिलाफ पहाड़ की महिलाओं ने जो जेहाद छेड़ा है, वह अनुकरणीय है। 'चिपको आंदोलन' अब काफी बढ़ चुका है। इस आंदोलन के प्रणेता श्री सुंदरलाल बहुगुणा ने अपना जीवन वन-संरक्षण हेतु समर्पित कर दिया है (इस वर्ष उन्हें पद्मश्री से विभूषित किया गया है। वस्तुतः यह 'चिपको आंदोलन' में लगे लाख-लाख वन-प्रेमियों का अभिनंदन है। उनके आंदोलन की, उनकी मांग की स्वीकारोक्ति है)। न्यूजीलैंड के 91 वर्षीय डा. रिचर्ड सेंट बर्वे बेकर (जिन्हें प्रायः वृक्ष-मानव–'मैन ऑफ दि ट्रीज' नाम से जाना जाता है) चिपको आंदोलनकारियों को बधाई देने भारत आए। आजीवन वृक्षों की सेवा में लगे कर्मयोगी बाबा बेकर 'वृक्ष-मानव (1922) तथा 'हरित धरती के बच्चे' (1980) जैसी संस्थाओं के संस्थापक हैं। केरल की मूक घाटी (साइलेंट वेली) ने भी राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया है। ऐसे आंदोलन बहुत उपयोगी हैं।

विश्व चेतना

पर्यावरण सुरक्षा के लिए विश्व-नीति जरूरी है। इसमें संदेह नहीं है कि अलग-अलग कदम उठाकर विभिन्न देश सारी पृथ्वी के लिए विनाशकारी स्थिति पैदा कर सकते हैं। अतः हमें यह मानना चाहिए कि भले हम अलग-अलग देश-जाति के हों, पृथ्वी केवल एक है, प्रकृति सार्वभौम है। हमें केवल अपने लिए नहीं, समूची पृथ्वी के लिए उसको इकाई मानकर कुछ-न-कुछ कदम उठाना पड़ेगा।

1948 में फ्रांस के फौतेनव्ला नगर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की मदद से प्रकृति के संरक्षण का अंतरराष्ट्रीय संघ (ICUN) स्थापित हुआ था, जो अब विश्व-संरक्षण का संगठन बन चुका है। पर असली कार्य प्रारंभ हुआ संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि के सहयोग से 1968 में पेरिस में आयोजित 'जीवमंडल कांफ्रेंस' से। इस कांफ्रेंस में प्रमुख रूप से वैज्ञानिक विशेषज्ञों ने भाग लिया था। इस कांफ्रेंस के बाद विश्व-पर्यावरण के बारे में जो चेतना मुखर हुई थी, उसे 1972 में स्टाकहोम में आयोजित संयुक्त राष्ट्रसंघ की 'मानव पर्यावरण कांफ्रेंस' से और बल मिला और चूंकि इसमें राजनीतिज्ञों की बहुलता थी, इसलिए पर्यावरण की समस्या को विश्व-स्तर पर राजनीतिक संबल प्राप्त हुआ और यह महसूस किया गया कि पर्यावरण संरक्षण हेतु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किए जाने चाहिए। स्टाकहोम में 110 से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधि मौजूद थे और उक्त अवसर पर राष्ट्रीय सरकारों और अंतरराष्ट्रीय संगठन के लिए 109 सूत्री सिफारिशें मंजूर की गई। इस सम्मेलन के निष्कर्षों को वैज्ञानिक और राजनीतिक दोनों रूपों में स्वीकृति मिली।

सारे राष्ट्रों ने पर्यावरण संबंधी कानून बनाए। अमेरिकी राष्ट्रपति ने 1969 के राष्ट्रीय पर्यावरण नीति विधेयक पर 1 जनवरी, 1970 को हस्ताक्षर कर इस दिशा में पहल की। 1970

में हालैंड की सरकार ने पर्यावरण की सुरक्षा पर एक श्वेत पत्र में सरकारी पुनर्गठन का आधार पेश किया जिससे पर्यावरण का विभाग स्थापित किया जा सके। 1971 में फ्रांस सरकार ने प्रकृति और पर्यावरण की सुरक्षा का मंत्रालय खोला। इसी प्रकार स्वीडन, कनाडा, जापान तथा अन्य बहुत-से राष्ट्रों में पर्यावरण संबंधी नई एजेंसियां स्थापित की गई।

दिसंबर, 1980 में भारत सरकार ने भी केंद्र में एक पर्यावरण विभाग खोला है। अपने यहाँ की बहुत-सी राज्य सरकारों ने भी विज्ञान और पर्यावरण विभागों की स्थापना की है।

पर्यावरण आज की जटिल एवं ज्वलंत समस्या है। प्रतिवर्ष 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस मनाया जाता है। इस अवसर पर पर्यावरण की समस्याओं पर चर्चाएं की जाती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ, पगवाश आंदोलन, विश्व वन्य जीव संरक्षण कोष, अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति एवं प्राकृतिक संपदा संघ तथा यूनेस्को द्वारा आयोजित "मैन एंड बायोस्फियर" परियोजनाएं पर्यावरण की सुरक्षा के लिए जागरूक हैं और हल ढूंढने में क्रियाशील हैं।

'जयशंकर प्रसाद'

जिस समय खड़ी बोली और हिंदी आधुनिक साहित्य अपनी किशोरावस्था में पदार्पण कर रहे थे, उस समय हिंदी की महान विभूति जयशंकर प्रसाद का जन्म हुआ। माघ मास की दशमी 30 जनवरी, 1889 को वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में जयशंकर प्रसाद 'शिवरत्न साहू' (पितामह) के कुल दीपक के रूप में जन्में, पले और बड़े हुए। इनका परिवार बहुत ही प्रतिष्ठित एवं बनारस के मुख्य व्यवसायियों में एक था। विशेष प्रकार की सुरती (तम्बाकू) बनाने के कारण 'सूँघनी साहू' के नाम से इनका परिवार पूरे शहर में विख्यात था। इनकी दानशीलता सर्वविदित थी और उनके यहाँ विद्वानों, कलाकारों का बहुत सम्मान होता था। तब इस सुरती बनाने वाले परिवार को कहाँ ज्ञात था कि उनके ही घर से कोई हिंदी साहित्य के इतिहास में अपना नाम सुनहरे अक्षरों में लिखवा जाएगा।

इनकी शिक्षा घर पर ही आरंभ हुई और संस्कृत, हिंदी, फारसी, उर्दू के लिए विशेष शिक्षकों को नियुक्त किया गया था। कुछ समय बाद 'क्वींस कॉलेज' में इनका दाखिला हुआ और इनकी सांस्थानिक शिक्षा आरंभ हुई। 12 वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु के पश्चात इनके परिवार में क्लेश बढ़े और 'सूँघनी साहू' जैसा वैभव संपन्न परिवार ऋण के भार से दब गया।

प्रसाद जी का जीवन कुल 48 वर्षों का रहा और इतने अल्पावधि में प्रसाद ने साहित्य की हर एक विधा में अपनी रचना कौशल को सिद्ध किया। कविता, उपन्यास, नाटक, निबंध, एकांकी, चम्पू, इतना कुछ लिख दिया कि आश्चर्य होता है। किंतु उनकी हर विधा में उनके अंदर का कवि सर्वत्र मुखरित हुआ है। वस्तुतः एक कवि की गहरी कल्पनाशीलता ने ही साहित्य को अन्य विधाओं में उन्हें विशिष्ट एवं व्यक्तिगत प्रयोग करने के लिए अनुप्रेरित किया। उनकी कहानियों का अपना पृथक और सर्वथा मौलिक शिल्प है, उनके चरित्र-चित्रण का, भाषा-सौष्ठव का, वाक्य गठन का, एक सर्वथा निजी प्रतिष्ठान है। उनके नाटकों में भी इसी प्रकार के अभिनव प्रयोग मिलते हैं। नाटकों को लेकर जब इनकी आलोचनाएँ हुईं तब इन्होंने कहा था कि – 'रंगमंच नाटक के अनुकूल होना चाहिए न कि नाटक रंगमंच के अनुकूल।' इनका यह कथन ही नाटक रचना के आंतरिक विधान को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध कर देता है। कविता, नाटक, कहानी सभी क्षेत्रों में प्रसाद जी एक नवीन 'विद्यालय' और नवीन जीवन-दर्शन की स्थापना करने में सफल हुए हैं। 'छायावाद' के चार प्रमुख स्तम्भों में एक प्रसाद जी पहले 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में अपनी रचनाएँ करते थे, पर क्रमशः वे खड़ी बोली को अपनाते गए।

'चित्राधार' इनका प्रथम संग्रह था जो कि 1918 में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'कामायनी', 'आँसू', 'लहर', 'झरना' के रूप में हिंदी काव्य को विभूषित किया। चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त आदि महान नाटकों के रचयिता प्रसाद ने तितली और कंकाल आदि

उपन्यासों की भी रचना की। 15 नवम्बर, 1937 में प्रसाद जी के निधन पर मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी श्रद्धांजलि देते हुए लिखा –

"जयशंकर कहते-कहते हम अब भी काशी आवेंगे।
किंतु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का, मूर्तिमान हम पावेंगे।
तात-भस्म भी तेरे तन की, हिंदी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते-रोते जावेंगे।।"

पेशोला की प्रतिध्वनि

जयशंकर प्रसाद

अरुण करुण बिम्ब!

वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन पिण्ड!
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्त्तनों में
श्रमित नमित सा–
पश्चिम के व्योम में आज निरवलम्ब सा।
आहुतियाँ विश्व की अजस्र ले लुटाता रहा-
सतत सहस्र कर माला से—
तेज ओज बल जो वदान्यता कदम्ब-सा।
पेशोला की उर्मियां हैं शान्त, घनी छाया में-
तट तरु है चित्रित तरल चित्रसारी में।
झोंपड़े खड़े हैं बने शिल्प ये विषाद के–
दग्ध अवसाद से।
धूसर जलद खंड फट पड़े हैं,
जैसे विजन अनंत में।
कालिमा बिखरती है संध्या के कलंक सी,
दुंदुभि-मृदंग-तूर्य शांत स्तब्ध, मौन है।
फिर भी पुकार सी है गूँज रही व्योम में–
“कौन लेगा भार यह?
कौन विचलेगा नहीं?
दुर्बलता इस अस्थिमांस की–
ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थि पुंज सा हँसेगा अट्टहास कौन?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से
कौन लेगा भार यह?
जीवित है कौन?
साँस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर, मैं हूँ–
–मैं हूँ—मेवाड़ में,

अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किस का?
बोलो, कोई बोलो–अरे क्या तुम सब मृत हो?

आह, इस खेवा की!
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में
अंधकार पारावार गहन नियति सा–
उमड़ रहा है ज्योति-रेखा-हीन क्षुब्ध हो।

खींच ले चला है –
काल-धीवर अनंत में,
साँस, सफरी सी, अटकी है किसी आशा में
आज भी पेशोला के —
तरल जल मंडलों में,
वही शब्द घूमता सा–
गूँजता विकल है।
किंतु वह ध्वनि कहाँ?
गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की
वही मेवाड़!
किंतु आज प्रतिध्वनि कहाँ?"

'केदारनाथ अग्रवाल'

'युग की गंगा', 'नींद के बादल', 'लोक और आलोक', 'फूल नहीं रंग बोलते हैं', 'आग का आईना', 'गुलमेहँदी', 'पंख का पतवार', हे मेरी तुम' जैसे प्रसिद्ध काव्य-संग्रहो के रचनाकार 'केदारनाथ अग्रवाल' जी का जन्म 1 अप्रैल, 1911 में उत्तरप्रदेश के बाँदा जिले के एक छोटे-से गाँव 'कमासिन' में हुआ था। सोवियत लैंड नेहरू सम्मान, साहित्य एकादमी, मैथिलीशरण गुप्त आदि सम्मानों से विभूषित इस रचनाकार की प्रारंभिक शिक्षा उनके गाँव से ही आरंभ हुई। केदारजी के पिताजी हनुमान प्रसाद अग्रवाल स्वयं एक कवि थे, उनका एक काव्य-संग्रह 'मधुरिम' के नाम से प्रकाशित भी हुआ था। अपने गाँव से आरंभ क्रमशः रायबरेली, कटनी, जबलपुर, इलाहाबाद में उनकी पढ़ाई हुई। फिर वकालत की डिग्री ली। तत्पश्चात सेना में भर्ती होकर 1971 तक कार्यरत रहे।

अपनी कविता से जन-गण-मन को मानवता का स्वाद चखाने वाले अमर कवि केदार जी को काव्य-रचना की भूख बचपन से ही थी, कारण शायद उनके पिता का कवि होना भी हो सकता है। गरीब और पीड़ित जन के संघर्षपूर्ण जीवन से जुड़ने का अवसर भी बचपन से मिले इनके घर-परिवार के संस्कारों की ही देन है। कालांतर में ये कानून की शिक्षा प्राप्त करने के दौरान मार्क्सवादी से जुड़ते हुए प्रगतिशील विचारधारा से परिचित हुए और यही इनके जीवन के आत्ममंथन का दौर बना जिसने आगे चलकर उन्हें एक समर्पित वकील व अनूठे कवि बनने में सहायता की।

इनकी काव्य यात्रा लगभग 1930 से आरंभ हुई और प्रगतिशील कवियों की श्रेणी में बहुत ख्याति प्राप्त हुई। इनकी प्रकाशित ढ़ाई दर्जन कृतियों में 23 कविता संग्रह, एक अनूदित कविताओं का संकलन, तीन निबंध संग्रह, एक उपन्यास, एक यात्रा वृतांत, एक साक्षात्कार संकलन और एक पत्र संकलन भी शामिल हैं। लेखनी तो इनकी गद्य और काव्य दोनों ही क्षेत्रों में चली, किंतु ये एक कवि के रूप में ही सुविख्यात हुए। इनके द्वारा लिखे संस्मरण 'बस्ती खिले गुलाबों की', उपन्यास - 'पतिया', 'बैल बाजी मार ले गए' तथा निबंध संग्रह - 'समय-समय पर', 'विचार-बोध' आदि भी काफी चर्चित रचनाएँ रहीं। पर कवि और कविता उनके हृदय में कैसे बसी थी, यह हम उनकी इस उक्ति से जान सकते हैं कि – "कवि चेतन सृष्टि का कर्ता हैं। हम कवि लोग ब्रह्मा हैं। कवि को महाकाल नहीं मान सकता। मैं उसी की लड़ाई लड़ रहा हूँ।"

केदार जी की मृत्यु तो 22 जून, 2000 में हो गई, किंतु इनके काव्य-संग्रह सागर जैसा विशाल, नदी की धारा जैसा निर्मल व तेज और चाँदनी-सी निश्छल आभा फैलाते हुए काव्य प्रेमियों के लिए थाती बन गए हैं।

पैतृक सम्पत्ति

केदारनाथ अग्रवाल

जब बाप मरा तब यह पाया,
भूखे किसान के बेटे ने।
घर का मलबा टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि वह भी परती,
चमरौधे जूते का तल्ला,
छोटी टूटी बुढ़िया औगी,
दरकी गोरसी, बहका हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा।
कंचन सुमेरु का प्रतियोगी,
द्वारे पर पर्वत घूरे का।
बनिया के रुपयों का कर्ज़ा
जो नहीं चुकाने पर चुकता।
दीमक, गोजर, मच्छर माटा
ऐसे हज़ार सब सहवासी।
बस यही नहीं जो भूख मिली
सौ गुनी बाप से अधिक मिली।
अब पेट खलाए फिरता है
चौड़ा मुँह बाए फिरता है।
वह क्या जाने आज़ादी क्या?
आज़ाद देश की बातें क्या?

'नागार्जुन'

30 जून, 1911 जिला मधुबनी, बिहार में 'वैद्यनाथ मिश्र' के नामकरण के साथ जिस बालक का जन्म हुआ, किसे पता था कि आगे चलकर यह बालक हिंदी साहित्य के महान पुरोधाओं में 'नागार्जुन' बनकर अपनी उपस्थिति दर्ज करेगा। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा का चन्द्रमा हिंदी काव्य जगत के उस दिवाकर के उदय का साक्षी है, जिसने अपनी फकीरी और बेबाकी से अपनी अनोखी पहचान बनाई। कबीर की पीढ़ी का यह महान रचनाकार 'नागार्जुन' कहलाया और मधुबनी के 'सतलखा' गाँव की धरती बाबा नागार्जुन की जन्मभूमि बनकर धन्य हो गई। इनका उपनाम 'यात्री' था और यहीं इनकी प्रवृत्ति की संज्ञा भी थी।

परंपरागत प्राचीन पद्धति से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने वाले बाबा नागार्जुन हिंदी, मैथिली, संस्कृत तथा बांग्ला में कविताएँ लिखते थे। मैथिली भाषा में रचित इनका काव्य-संग्रह 'पत्रहीन नग्न गाछ' के लिए इन्हें साहित्य एकादमी से सम्मानित किया गया।

उनके स्वयं कहे अनुसार उनकी 40 राजनीतिक कविताओं का चिरप्रतीक्षित संग्रह 'विशाखा' आज भी उपलब्ध नहीं है। हिंदी में इनकी बहुत सी काव्य पुस्तकें हैं। नागार्जुन के गीतों में काव्य की पीड़ा जिस लयात्मकता के साथ व्यक्त हुई, वह अन्यत्र ढूँढ पाना मुश्किल है। इन्होंने काव्य के साथ-साथ गद्य में भी लेखनी चलाई। इनके कई हिंदी और एक मैथिली उपन्यास तथा संस्कृत से हिंदी में अनूदित ग्रंथ भी देखने को मिलते हैं। इन्होंने एक दर्जन काव्य-संग्रह, दो खण्ड-काव्य, दो मैथिली कविता संग्रह हिंदी साहित्य को दिए हैं। 'रतिनाथ की चाची' (1948), 'बलचनमा' (1952), 'नयी पौध' (1953), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) आदि कई प्रसिद्ध उपन्यास नागार्जुन ने लिखे तथा 'युगधारा' (1952) जो कि उनका पहला काव्य-संकलन है, 'सतरंगे पंखोंवाली', 'तालाब की मछलियाँ', 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने', 'पुरानी जूतियों का कोरस', 'भूल जाओ पुराने सपने' आदि कई राजनीतिक सामाजिक व्यंग्य के संग्रह इनकी लेखनी ने हिंदी साहित्य को भेंट किए।

इन्होंने कई प्रयोग किए लय, छंद और विषयवस्तु के संबंध में। नामवर सिंह लिखते हैं - "नागार्जुन की भाषा लोक भाषा के निकट है।...तद्भव तथा ग्रामीण शब्दों के प्रयोग के कारण इसमें एक विचित्र प्रकार की मिठास आ गई है। नागार्जुन की शैलीगत विशेषता यह भी है कि वे लोकमुख की वाणी बोलना चाहते हैं।

आजादी के पहले से लेकर अपनी जिंदगी की आखिरी साँस तक जनता के साथ कंधा भिड़ाकर लड़ने-भिड़ने, उनसे सीखने और उन्हें सिखाने की ज़िद नागार्जुन के कविता केंद्र में है। सत्ता के खिलाफ खड़ा होना, समकालीन आलोचकों की कुटिल भू-भंगिमा से मोर्चा लेना और साहित्य की पवित्र भूमि से बर्खास्तगी, यही तो मिलता है एक जनकवि को। परंतु साथ ही उसे जनता का प्रेम मिलता है, समर्थन मिलता है। दिल्ली की बसों के चिढ़े ड्राइवरों से लेकर खेत-मजदूर तक इन्हें सर-आँखों पर रखते थे।

विद्यापति के बाद नागार्जुन ही हुए जिन्होंने मैथिली भाषा को आंदोलन के रूप में इस्तेमाल किया। इनके पूर्व तक मैथिली लेखन कवि के लिए भले मैथिली भाषा आंदोलन एक विवशता रही हो, लेकिन 'साइकिल की हैंडिल में अपना चूड़ा-सत्तू बांधकर मिथिला के गाँव-गाँव जाकर प्रचार-प्रसार करने' की कला ने उन कवियों को आत्ममुग्ध कर दिया।

5 नवंबर, 1998 में बिहार के दरभंगा जिले में नागार्जुन ने अंतिम साँसे ली और जनता के हृदय में अपनी अमिट छाप छोड़कर यह जन-कवि हमेशा-हमेशा के लिए मिथिलांचल की मिट्टी में विलीन हो गया।

उनको प्रणाम!

नागार्जुन

जो नहीं हो सके पूर्ण-काम
मैं उनको करता हूं प्रणाम!

कुछ कुंठित औ' कुछ लक्ष्य-भ्रष्ट
जिनके अभिमंत्रित तीर हुए,
रण की समाप्ति के पहले ही
जो वीर रिक्त तूणीर हुए!
– उनको प्रणाम!

जो छोटी-सी नैया लेकर
उतरे करने को उदधि-पार,
मन की मन में ही रही, स्वयं
हो गए उसी में निराकार!
—उनको प्रणाम!

जो उच्च शिखर की ओर बढ़े
रह-रह नव-नव उत्साह भरे
पर कुछ ने ले ली हिम-समाधि
कुछ असफल ही नीचे उतरे!
—उनको प्रणाम!

एकाकी और अकिंचन हो
जो भू-परिक्रमा को निकले,
हो गए पंगु, प्रति-पद इतने
अदृष्ट के दाव चले!
– उनको प्रणाम!

कृत-कृत्य नहीं जो हो पाए,
प्रत्युत फांसी पर गए झूल
कुछ ही दिन बीते हैं, फिर भी
यह दुनिया जिनको गई भूल!
—उनको प्रणाम!

थी उग्र साधना, पर जिनका
जीवन नाटक दुखांत हुआ
था जन्म-काल में सिंह लग्न
पर कुसमय ही देहांत हुआ!
—उनको प्रणाम!

'दृढ़ व्रत औ' दुर्दम साहस के
जो उदाहरण थे मूर्ति-मंत,
पर निरवधि बंदी जीवन ने
जिनकी धुन का कर दिया अंत!
—उनको प्रणाम!

जिनकी सेवाएं अतुलनीय
पर विज्ञापन से रहे दूर
प्रतिकूल परिस्थिति ने जिनके
कर दिए मनोरथ चूर-चूर
–उनको प्रणाम!

'दुष्यंत कुमार'

यूँ तो गज़लों पर उर्दू और फारसी की हुकूमत चलती है लेकिन हिंदी के एक महान रचनाकार ने हिंदी भाषा में गज़लों को लिखकर, हिंदी साहित्य के काव्य-क्षेत्र में एक नई विधा को जन्म दिया, जिन्हें हम दुष्यंत कुमार के नाम से जानते हैं। समकालीन हिंदी कविता, विशेषकर हिंदी गज़ल के क्षेत्र में जो लोकप्रियता दुष्यंत कुमार को मिली, वो दशकों बाद विरले किसी कवि को नसीब होती है।

इनका जन्म 1 सितंबर, 1933 में उत्तर-प्रदेश के बिजनौर में हुआ था। इनके गाँव का नाम 'राजपुर नवादा' था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत कुछ दिनों तक आकाशवाणी भोपाल में असिस्टेंट प्रोड्यूसर बनकर रहे और इसी दौरान कमलेश्वर, मार्कण्डेय के साथ इनकी मित्रता बढ़ी। वास्तविक जीवन में दुष्यंत सहज और मनमौजी थे। इनका पूरा नाम 'दुष्यंत कुमार त्यागी' था। आरंभ में वे 'परदेशी' उपनाम से लेखन कार्य करते थे।

इन्होंने 'एक कंठ विषपायी', 'सूर्य का स्वागत', 'आवाजों के घेरे', 'जलते हुए वन का बसंत', 'छोटे-छोटे सवाल', के साथ कई गद्य और कविता की किताबों का सृजन किया। कहने की जरूरत नहीं कि जिस समय दुष्यंत साहित्य की दुनिया में प्रवेश कर रहे थे, उस समय भोपाल के दो प्रगतिशील शायरों 'ताज भोपाली' और 'कैफ भोपाली' का गज़लों की दुनिया पर राज था। हिंदी में भी 'मुक्तिबोध' और 'अज्ञेय' जैसे कठिन कविताओं के कवियों का बोलबाला था। आम जन के करीब उस वक्त 'नागार्जुन और धूमिल' की चर्चाएँ थीं। ऐसे कठिन युग में सिर्फ 42 वर्ष की अल्पावधि में दुष्यंत कुमार ने अपार ख्याति अर्जित की। निदा फाज़ली ने दुष्यंत कुमार के लिए कहा कि –

"दुष्यंत की नज़र उनके युग की नई पीढ़ी के गुस्से और नाराज़गी से सजी बनी है। यह गुस्सा और नाराज़गी उस अन्याय और राजनीति के कुकर्मों के खिलाफ नए तेवरों की आवाज थी, जो समाज में मध्यवर्गीय झूठेपन की जगह पिछड़े वर्ग की मेहनत और दया की नुमायंदगी करती है।"

दुष्यंत अपने जीवनकाल में ही एक किंवदंती बन गए थे। उनकी लोकप्रियता का अनुमान केवल इतनी बात से लगाया जा सकता है कि चुनावों में आमने-सामने दो विरोधी पार्टियाँ एक ही तख्ती लगाए चलती। 'सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं, मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।'

दुष्यंत की मौजूदगी हमारी हिंदी की जातीय अस्मिता की एक बहुत बड़ी विजय है। ऐसे कवि किसी भी कालखंड में प्रासंगिक रहते हैं।

हो गई है पीर पर्वत-सी

दुष्यंत कुमार

हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।
आज यह दीवार, पर्दों की तरह हिलने लगी,
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।
हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गांव में,
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए।
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं
मेरी कोशिश है कि यह सूरत बदलनी चाहिए।
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही,
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए

'शमशेर बहादुर सिंह'

शमशेर का जन्म 13 जनवरी, 1911 को देहरादून में हुआ। उनके पिता तारीफ सिंह तथा माता परम देवी की दो संतानें हुईं, जिनमें इनके बड़े भाई तेज बहादुर और दूसरे स्वयं शमशेर बहादुर थे। इनकी माँ दोनों भाइयों के स्नेह को देखते हुए इन्हें 'राम-लक्ष्मण' की जोड़ी कहती थीं। किंतु नौ वर्ष की अल्पावधि में ही इनकी माँ का स्वर्गवास हो गया किंतु शमशेर जब तक जिए अपनी माँ की 'राम-लक्ष्मण' की जोड़ी को टूटने नहीं दिया।

इनकी आरंभिक शिक्षा देहरादून में ही हुई और हाईस्कूल तथा इंटर की परीक्षा गोंडा से दी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक उत्तीर्ण करने के उपरांत एम. ए. में दाखिला तो लिया लेकिन फाइनल की परीक्षा नहीं दे पाए। इन्हें चित्रकारी का बहुत शौक था इसलिए 1935-36 में उकील बंधुओं से पेंटिंग कला सीखी। इसके बाद 'रूपाभ', 'कहानी', 'नया-साहित्य', 'माया', 'नया पथ', 'मनोहर कहानियाँ' आदि जैसे पत्रिकाओं का संपादन भार सम्हालने का कार्य भी किया। 1929 में 18 वर्ष की आयु में इनका विवाह धर्मवती से हुआ किंतु छः वर्ष बाद ही टीबी रोग से ग्रसित होकर पत्नी की मृत्यु हो गई। 24 वर्षीय शमशेर को मिला जीवन का यह अभाव उनकी कविता में विभाव बनकर हमेशा मौजूद रहा। काल ने जिसे छीन लिया, उसे अपनी कविता में सजीव रखकर वे काल से होड़ लेते रहे।

युवावस्था में शमशेर वामपंथी विचारधारा और प्रगतिशील साहित्य से प्रभावित थे। इन्होंने अपने बिंबों, उपमानों और संगीत ध्वनियों द्वारा चमत्कार और वैचित्र्यपूर्ण आघात उत्पन्न करने की चेष्टा की, किंतु किसी केन्द्रगामी विचार तत्व का उनमें प्रायः अभाव सा है। इनकी अभिव्यक्ति में अधूरापन परिलक्षित होता है तथा इनकी कविताओं में उलझनभरी संवेदनशीलता देखने को मिलती है। इनमें शब्द-मोह के प्रति अधिक जागरूकता है, इनकी कविताएँ रीतिकालीन कवियों का स्मरण कराती हैं जहाँ भाव से अधिक चमत्कार की कोशिश रहती थी। इनकी कविताएँ आधुनिक काव्य-बोध के अधिक निकट हैं, जहाँ पाठक तथा श्रोता के सहयोग की स्थिति को स्वीकार किया जाता है। इनकी रचना प्रकृति हिंदी में अप्रतिम है और अनेक संभावनाओं से युक्त है। अज्ञेय के साथ शमशेर ने हिंदी कविताओं में रचना पद्धति की नई दिशाओं को उद्घाटित किया है और छायावादोत्तर काव्य को एक गति प्रदान की है।

कुछ कविताएँ (1956), कुछ और कविताएँ (1961), शमशेर बहादुर सिंह की रचनाएँ (1972), उदिता : अभिव्यक्ति का संघर्ष (1980) आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं जिन्हें हिंदी साहित्य को सौंप वे 12 मई 1993 को इस दुनिया से चले गए।

शमशेर को अपने रचना कर्म के लिए कई पुरस्कार मिले, जैसे – कबीर सम्मान (1989), मैथिली शरण गुप्त पुरस्कार, साहित्य अकादमी पुरस्कार (1977) आदि।

धार्मिक दंगों की राजनीति

शमशेर बहादुर सिंह

जो धर्मों के अखाड़े हैं
उन्हें लड़वा दिया जाए!
जरूरत क्या कि हिंदुस्तान पर
हमला किया जाए!!

मुझे मालूम था पहले हि
ये दिन गुल खिलाएँगे
ये दंगों और धर्मों तक भी
आखिर फैल जाएँगे!!

तबीयत को रँगों जिस रंग में
रँगती हि जाती है :
बढ़ो जिस सिम्त में, उसकी हि
सीमा बढ़ती जाती है!!

जो हिन्दु-मुस्लिम था वो
सिक्ख-हिन्दू हो गया
देखो!
ये नफ़रत का तकाज़ा
और कितना बढ़ गया
देखो!!
हम इसके पहले भी
मिल-जुल के आख़िर
रहते आए थे
जो अपने भी नहीं थे,
वो भि कब इतने
पराए थे!

हम अपनी सभ्यता के
मानी-औ-मतलब ही
खो बैठे
जो थीं अच्छाइयाँ
इतिहास की
उन सबको धो बैठे

तबीअत जैसी बन
जाती है, फिर बनती ही
जाती है,
जो तन जाती है आपस में
तो फिर तनती ही
जाती है।

हमारे बच्चे वो ही
सीखते हैं, हम जो
करते हैं;
हमें ही देखकर, वह तो
बिगड़ते या सँवरते हैं।

जो हश्र होता है
फ़र्दों का, वही
क़ौमों का होता है
वही फल मुल्क को
मिलता है, जिसका
बीज बोता है!

ये हालत देखकर
अपने जो दुश्मन मुल्क
होते हैं
हमारी राह में वो चुपके-
चुपके काँटे बोते हैं।

हमारे धर्मों की क्या-क्या न
वो तारीफ़ करते हैं
वो कहते हैं कि – हम तो
आपके धर्मों पे मरते हैं

ये हैं कितने महान
इनकी तो बुनियादें
बचाना है।
(दरअसल, हमको लड़ाकर
उनकी बुनियादें हिलाना है)

ये मुल्क इतना बड़ा है
यह कभी बाहर के
हमले से
न सर होगा!
जो सर होगा तो बस
अंदर के फितने से

ये मनसूबा है—
दक्षिण एशिया में
धर्म का चक्कर...
चले! — और बौद्ध,
हिन्दु, सिक्ख, मुस्लिम
में रहे टक्कर!

वो टक्कर हो कि सब कुछ
युद्ध का मैदान
बन जाए!
कभी जैसा नहीं था, वैसा
हिंदुस्तान बन जाए।।

'प्रेमचंद'

उपन्यास सम्राट के नाम से प्रसिद्ध मुंशी प्रेमचंद का जन्म वाराणसी से लगभग चार मील दूर, लमही नाम के गाँव में 31 जुलाई, 1880 में हुआ। इनका बचपन गाँव में ही बीता था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। एक मौलवी से उन्होंने उर्दू और फारसी की शिक्षा भी प्राप्त की। 8 वर्ष की आयु में माँ की मृत्यु ने प्रेमचंद को अकेला कर दिया। पंद्रह वर्ष की आयु में विवाह तो हुआ पर टिका नहीं। इन्होंने निश्चय किया कि दूसरा विवाह किसी विधवा स्त्री से करेंगे। यह निर्णय ही उनके उच्च विचारों और आदर्शों की नींव रख रहा था। शिवरानी से 1905 में प्रेमचंद ने विवाह कर लिया। इसके पश्चात् इनके जीवन में सुधार आया, आर्थिक तंगी घटी, साहित्य-लेखन और सजग हुआ और पदोन्नति के साथ ये स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर बना दिए गए।

इसी खुशहाली के जमाने में प्रेमचंद की पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे-वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ जो कि बहुत मशहूर हुआ, किंतु अंग्रेजी हुकूमत ने इसे जब्त कर लिया, क्योंकि इस रचना से जनता में संघर्ष की चिंगारी भड़कने का अंदेशा था।

प्रेमचंद को पढ़ने का शौक था और वे वकील बनना चाहते थे, किंतु आर्थिक तंगी ने इनकी कमर तोड़ दी। स्कूल के पैसे न होने के कारण एक वकील साहब के यहाँ ट्यूशन पकड़ लिया और वहीं एक कमरा लेकर रहने लगे। इस तंगी में भी मैट्रिक पास कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य, पर्सियन और इतिहास विषयों से स्नातक की उपाधि द्वितीय श्रेणी से प्राप्त की।

इनका कहना था कि समाज में जिंदा रहने में जितनी कठिनाइयों का सामना लोग करेंगे उतना ही वहाँ गुनाह होगा। अगर समाज में लोग खुशहाल होंगे तो अच्छाई ज्यादा होगी और समाज में गुनाह नहीं के बराबर होगा। शोषित वर्ग को उठाने का हर संभव प्रयास प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किया। उन्होंने आवाज़ लगाई – "ऐ लोगों जब तुम्हें संसार में जिन्दा रहना है तो जिन्दों की तरह रहो, मुर्दों की तरह जिंदा रहने से क्या फायदा?"

समाज की सबसे पुरानी और सड़ती हुई बीमारी 'वर्गवाद' के खिलाफ प्रेमचंद ने शुरू से आवाज उठाई और इसके खिलाफ लिखने के लिए सरकारी पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके मुताबिक 'वर्तमान युग न तो धर्म का है न मोक्ष का। अर्थ ही उसका प्राणतत्व बनता जा रहा है।' यही कारण था कि प्रेमचंद पूर्ण रूप से नास्तिक बन गए। मृत्यु के कुछ घंटों पहले वे जैनेन्द्र से कहते हैं – "जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय में ईश्वर को याद करते हैं, मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर मुझे अभी तक ईश्वर को कष्ट देने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई।"

वे बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे और इनकी रचनाओं में तत्कालीन इतिहास बोलता है। जन-साधारण की परिस्थितियों, भावनाओं और उनकी समस्याओं का मार्मिक चित्रण

कर यह सिद्ध किया कि उनकी कृतियाँ भारत के सर्वाधिक विशाल और विस्तृत वर्ग की कृतियाँ हैं। बड़े घर की बेटी, पूस की रात, सद्गति जैसी अनगिनत कहानियाँ इसका प्रमाण देते नजर आती हैं। इनकी रचनाएँ मुख्य रूप से भ्रष्ट पदाधिकारी, जमींदार और किसानों के इर्द-गिर्द नजर आती हैं। 'सौत', 'सज्जनता का दण्ड', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'बूढ़ी काकी', 'उपदेश', 'परीक्षा' प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती हैं। जीवन के अंतिम दिनों में शायद उन्हें पूर्वाभास ही हुआ होगा कि अब उनका जीवन बहुत कम है, इसलिए 1936 में प्रकाशित 'कफन' (कहानी) और 'गोदान' (उपन्यास) में उनके प्रौढ़ और प्रखर विचारों का परिचय मिलता है। 8 अक्टूबर, 1936 में इनका देहावसान हुआ। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद ने जो लकीर खींच दी है उसे आज तक कोई नहीं लांघ पाया है।

मंत्र

प्रेमचंद

संध्या का समय था। डाक्टर चड्ढा गोल्फ खेलने के लिए तैयार हो रहे थे। मोटर द्वार के सामने खड़ी थी कि दो कहार एक डोली लिए आते दिखाई दिए। डोली के पीछे एक बूढ़ा लाठी टेकता चला आता था। डोली औषधालय के सामने आकर रुक गई। बूढ़े ने धीरे-धीरे आकर द्वार पर पड़ी हुई चिक से झाँका। ऐसी साफ-सुथरी जमीन पर पैर रखते हुए भय हो रहा था कि कोई घुड़क न बैठे। डाक्टर साहब को खड़े देख कर भी उसे कुछ कहने का साहस न हुआ।

डाक्टर साहब ने चिक के अंदर से गरज कर कहा – कौन है? क्या चाहता है?

बूढ़े ने हाथ जोड़कर कहा – हुजूर बड़ा गरीब आदमी हूँ। मेरा लड़का कई दिन से.....

डाक्टर साहब ने सिगार जला कर कहा – कल सबेरे आओ, कल सबेरे, हम इस वक्त मरीजों को नहीं देखते।

बूढ़े ने घुटने टेक कर जमीन पर सिर रख दिया और बोला – दुहाई है सरकार, लड़का मर जाएगा। हुजूर, चार दिन से आँखें नहीं.....

डाक्टर चड्ढा ने कलाई पर नजर डाली। केवल दस मिनट समय और बाकी था। गोल्फ-स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले– कल सबेरे आओ, कल सबेरे, यह हमारे खेलने का समय है।

बूढ़े ने पगड़ी उतार कर चौखट पर रख दी और रो कर बोला–हुजूर, एक निगाह देख लें। बस, एक निगाह। लड़का हाथ से चला जाएगा हुजूर, सात लड़कों में यही एक बच रहा है, हुजूर। हम दोनों आदमी रो-रोकर मर जाएंगे, सरकार! आपकी बढ़ती होय, दीनबंधु।

ऐसे उजड्ड देहाती यहाँ प्रायः रोज आया करते थे। डाक्टर साहब उनके स्वभाव से खूब परिचित थे। कोई कितना ही कुछ कहे, पर वे अपनी ही रट लगाते जाएंगे। किसी की सुनेंगे नहीं। धीरे से चिक उठाई और बाहर निकल कर मोटर की तरफ चले। बूढ़ा यह कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा– सरकार, बड़ा धरम होगा। हुजूर, दया कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ, संसार में कोई और नहीं है, बाबूजी!

मगर डाक्टर साहब ने उसकी ओर मुँह फेर कर देखा तक नहीं। मोटर पर बैठ कर बोले-कल सबेरे आना।

मोटर चली गई। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवाह नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है,

इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने जमाने के जीवों में था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कंधा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शांत करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढ़े को मोटर दिखाई दी, वह खड़ा टकटकी लगाए उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डाक्टर साहब के लौट आने की आशा थी। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा। डोली जिधर से आई थी उधर ही चली गई। चारों ओर से निराश हो कर वह डाक्टर चड्ढा के पास आया था। इनकी बड़ी तारीफ सुनी थी। यहाँ से निराश हो कर फिर वह किसी दूसरे डाक्टर के पास न गया। किस्मत ठोक ली।

उसी रात उसका हँसता-खेलता सात साल का बालक अपनी बाल-लीला समाप्त करके इस संसार से सिधार गया। बूढ़े माँ-बाप के जीवन का यही एक आधार था। इसी का मुँह देखकर जीते थे। इस दीपक के बुझते ही जीवन की अँधेरी रात भाँय-भाँय करने लगी। बुढ़ापे की विशाल ममता टूटे हुए हृदय से निकल कर अंधकार में आर्त-स्वर से रोने लगी।

2

कई साल गुजर गए। डाक्टर चड्ढा ने खूब यश और धन कमाया, लेकिन इसके साथ ही अपने स्वास्थ्य की रक्षा भी की, जो एक असाधारण बात थी। यह उनके नियमित जीवन का आशीर्वाद था कि पचास वर्ष की अवस्था में उनकी चुस्ती और फुर्ती युवकों को भी लज्जित करती थी। उनके हरएक काम का समय नियत था, इस नियम से वह जौ-भर भी न टलते थे। बहुधा लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन उस समय करते हैं, जब रोगी हो जाते हैं। डाक्टर चड्ढा उपचार और संयम का रहस्य खूब समझते थे। उनकी संतान-संख्या भी इसी नियम के अधीन थी। उनके केवल दो बच्चे हुए, एक लड़का और एक लड़की। तीसरी संतान न हुई, इसीलिए श्रीमती चड्ढा भी अभी जवान मालूम होती थीं। लड़की का तो विवाह हो चुका था। लड़का कालेज में पढ़ता था। वही माता-पिता के जीवन का आधार था। शील और विनय का पुतला, बड़ा ही रसिक, बड़ा ही उदार, विद्यालय का गौरव, युवक-समाज की शोभा। मुखमंडल से तेज की छटा-सी निकलती थी। आज उसकी बीसवीं सालगिरह थी।

संध्या का समय था। हरी-हरी घास पर कुर्सियाँ बिछी हुई थी। शहर के रईस और हुक्काम एक तरफ, कालेज के छात्र दूसरी तरफ बैठे भोजन कर रहे थे। बिजली के प्रकाश से सारा मैदान जगमगा रहा था। आमोद-प्रमोद का सामान भी जमा था। छोटा-सा प्रहसन खेलने की तैयारी थी। प्रहसन स्वयं कैलाशनाथ ने लिखा था। वही मुख्य एक्टर भी था। इस समय वह एक रेशमी कमीज पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव, इधर से उधर मित्रों की आवभगत में लगा हुआ था। कोई पुकारता–कैलाश, जरा इधर आना, कोई उधर से बुलाता–कैलाश, उधर ही रहोगे? सभी उसे छेड़ते थे, चुहलें करते थे, बेचारे को जरा दम मारने का अवकाश न मिलता था। सहसा एक रमणी ने उसके पास आकर पूछा – क्यों कैलाश, तुम्हारे साँप कहाँ हैं? जरा मुझे दिखा दो।

कैलाश ने उससे हाथ मिलाकर कहा– मृणालिनी, इस वक्त क्षमा करो, कल दिखा दूँगा।

मृणालिनी ने आग्रह किया–जी नहीं, तुम्हें दिखाना पड़ेगा, मैं आज नहीं मानने वाली। तुम रोज 'कल-कल' करते हो।

मृणालिनी और कैलाश दोनों सहपाठी थे और एक-दूसरे के प्रेम में पगे हुए। कैलाश को साँपों के पालने, खेलाने और नचाने का शौक था। तरह-तरह के साँप पाल रखे थे। उनके स्वभाव और चरित्र की परीक्षा करता रहता था। थोड़े दिन हुए, उसने विद्यालय में 'साँपों' पर एक मार्के का व्याख्यान दिया था। साँपों को नचा कर दिखाया भी था। प्राणिशास्त्र के बड़े-बड़े पंडित भी यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गए थे। यह विद्या उसने एक बड़े सँपेरे से सीखी थी। साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मरज था। इतना पता भर मिल जाए कि किसी व्यक्ति के पास अच्छी जड़ी है, फिर उसे चैन न आता था। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इस पर हजारों रुपये फूँक चुका था। मृणालिनी कई बार आ चुकी थी, पर कभी साँपों को देखने के लिए इतनी उत्सुक न हुई थी। कह नहीं सकते, आज उसकी उत्सुकता सचमुच जाग गई थी, या वह कैलाश पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करना चाहती थी, पर उसका आग्रह बेमौका था। उस कोठरी में कितनी भीड़ लग जाएगी, भीड़ को देखकर साँप कितने चौंकेंगे और रात के समय उन्हें छेड़ा जाना कितना बुरा लगेगा, इन बातों का उसे जरा भी ध्यान न आया।

कैलाश ने कहा–नहीं, कल जरूर दिखा दूँगा। इस वक्त अच्छी तरह दिखा भी तो न सकूँगा, कमरे में तिल रखने को भी जगह न मिलेगी।

एक महाशय ने छेड़ कर कहा–दिखा क्यों नहीं देते, जरा-सी बात के लिए इतना टाल-मटोल कर रहे हो? मिस गोविंद, हरगिज न मानना। देखें कैसे नहीं दिखाते।

दूसरे महाशय ने और रद्दा चढ़ाया–मिस गोविंद इतनी सीधी और भोली हैं, तभी आप इतना मिजाज करते हें, दूसरी सुंदरी होती, तो इसी बात पर बिगड़ खड़ी होती।

तीसरे साहब ने मजाक उड़ाया– अजी बोलना छोड़ देती। भला, कोई बात है! इस पर आपका दावा है कि मृणालिनी के लिए जान हाजिर है।

मृणालिनी ने देखा कि ये शोहदे उसे रंग पर चढ़ा रहे हैं, तो बोली– आपलोग मेरी वकालत न करें, मैं खुद अपनी वकालत कर लूँगी। मैं इस वक्त साँपों का तमाशा नहीं देखना चाहती। चलो छुट्टी हुई।

इस पर मित्रों ने ठट्ठा लगाया। एक साहब बोले– देखना तो आप सब कुछ चाहें, पर दिखाए भी तो?

कैलाश को मृणालिनी की झेंपी हुई सूरत को देखकर मालूम हुआ कि इस वक्त उनका इनकार वास्तव में उसे बुरा लगा है। ज्यों ही प्रीति-भोज समाप्त हुआ और गाना शुरू हुआ, उसने

मृणालिनी और अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के सामने ले जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक खाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह! क्या कमाल था। ऐसा जान पड़ता था कि वे कीड़े उसकी एक-एक बात, उसके मन का एक-एक भाव समझते हैं। किसी को उठा लिया, किसी को गरदन में डाल लिया, किसी को हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गर्दन में न डालो, दूर ही से दिखा दो। बस, जरा नचा दो। कैलाश की गरदन में साँपों को लिपटते देख कर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैंने व्यर्थ ही इनसे साँप दिखाने को कहा, मगर कैलाश एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपने सर्प-कला-प्रदर्शन का ऐसा अवसर पाकर वह कब चूकता! एक मित्र ने टीका की—दाँत तोड़ डाले होंगे।

कैलाश हँसकर बोला—दाँत तोड़ डालना मदारियों का काम है। किसी के दाँत नहीं तोड़े गए। कहिए तो दिखा हूँ? कह कर उसने एक काले साँप को पकड़ लिया और बोला–'मेरे पास इससे बड़ा और जहरीला साँप दूसरा नहीं है। अगर किसी को काट ले, तो आदमी आनन-फानन में मर जाए। लहर भी न आए। इसके काटे पर मंत्र नहीं। इसके दाँत दिखा हूँ?

मृणालिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—नहीं-नहीं, कैलाश, ईश्वर के लिए इसे छोड़ दो। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

इस पर एक-दूसरे मित्र बोले— मुझे तो विश्वास नहीं आता, लेकिन तुम कहते हो, तो मान लूँगा। कैलाश ने साँप की गरदन पकड़कर कहा—नहीं साहब, आप आँखों से देख कर मानिए। दाँत तोड़कर वश में किया, तो क्या। साँप बड़ा समझदार होता है। अगर उसे विश्वास हो जाए कि इस आदमी से मुझे कोई हानि न पहुँचेगी, तो वह उसे हरगिज न काटेगा।

मृणालिनी ने जब देखा कि कैलाश पर इस वक्त भूत सवार है, तो उसने यह तमाशा न करने के विचार से कहा—अच्छा भाई, अब यहाँ से चलो। देखा, गाना शुरू हो गया है। आज मैं भी कोई चीज सुनाउँगी। यह कहते हुए उसने कैलाश का कंधा पकड़कर चलने का इशारा किया और कमरे से निकल गई, मगर कैलाश विरोधियों का शंका-समाधान करके ही दम लेना चाहता था। उसने साँप की गरदन पकड़ कर जोर से दबायी, इतनी जोर से दबायी कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी नसें तन गईं। साँप ने अब तक उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ में न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं। उसे शायद भ्रम हुआ कि मुझे मार डालना चाहते हैं, अतएव वह आत्मरक्षा के लिए तैयार हो गया।

कैलाश ने उसकी गर्दन खूब दबा कर मुँह खोल दिया और उसके जहरीले दाँत दिखाते हुए बोला- जिन सज्जनों को शक हो, आकर देख लें। आया विश्वास या अब भी कुछ शक है? मित्रों ने आकर उसके दाँत देखे और चकित हो गए। प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने संदेह को स्थान कहाँ? मित्रों का शंका-निवारण करके कैलाश ने साँप की गर्दन ढीली कर दी और उसे जमीन पर रखना चाहा, पर वह काला गेहुँवन क्रोध से पागल हो रहा था। गर्दन नरम पड़ते ही उसने सिर उठा कर

कैलाश की उँगली में जोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलाश की ऊँगली से टप-टप खून टपकने लगा। उसने जोर से उँगली दबा ली और अपने कमरे की तरफ दौड़ा। वहाँ मेज की दराज में एक जड़ी रखी हुई थी, जिसे पीस कर लगा देने से घातक विष भी रफू हो जाता था। मित्रों में हलचल पड़ गई। बाहर महफिल में भी खबर हुई। डाक्टर साहब घबरा कर दौड़े। फौरन उँगली की जड़ कस कर बाँधी गई और जड़ी पीसने के लिए दी गई। डाक्टर साहब जड़ी के कायल न थे। वह उँगली का डसा भाग नश्तर से काट देना चाहते, मगर कैलाश को जड़ी पर पूर्ण विश्वास था। मृणालिनी प्यानों पर बैठी हुई थी। यह खबर सुनते ही दौड़ी और कैलाश की उँगली से टपकते हुए खून को रूमाल से पोंछने लगी। जड़ी पीसी जाने लगी, पर उसी एक मिनट में कैलाश की आँखें झपकने लगीं, ओठों पर पीलापन दौड़ने लगा। यहाँ तक कि वह खड़ा न रह सका। फर्श पर बैठ गया। सारे मेहमान कमरे में जमा हो गए। कोई कुछ कहता था। कोई कुछ। इतने में जड़ी पीसकर आ गई। मृणालिनी ने उँगली पर लेप किया। एक मिनट और बीता। कैलाश की आँखें बंद हो गईं वह लेट गया और हाथ से पंखा झलने का इशारा किया। माँ ने दौड़कर उसका सिर गोद में रख लिया और बिजली का टेबुल-फैन लगा दिया।

डाक्टर साहब ने झुक कर पूछा कैलाश, कैसी तबीयत है? कैलाश ने धीरे से हाथ उठा लिए, पर कुछ बोल न सका। मृणालिनी ने करुण स्वर में कहा—क्या जड़ी कुछ असर न करेगी? डाक्टर साहब ने सिर पकड़ कर कहा— क्या बतलाऊँ, मैं इसकी बातों में आ गया। अब तो नश्तर से भी कुछ फायदा न होगा।

आधे घंटे तक यही हाल रहा। कैलाश की दशा प्रतिक्षण बिगड़ती जाती थी। यहाँ तक कि उसकी आँखें पथरा गई, हाथ-पाँव ठंडे पड़ गए, मुख की कांति मलिन पड़ गई, नाड़ी का कहीं पता नहीं। मौत के सारे लक्षण दिखाई देने लगे। घर में कुहराम मच गया। मृणालिनी एक ओर सिर पीटने लगी, माँ अलग पछाड़ें खाने लगी। डाक्टर चड्ढा को मित्रों ने पकड़ लिया, नहीं तो वह नश्तर अपनी गर्दन पर मार लेते।

एक महाशय बोले—कोई मंत्र झाड़ने वाला मिले, तो संभव है, अब भी जान बच जाए। एक मुसलमान सजजन ने इसका समर्थन किया—अरे साहब कब्र में पड़ी हुई लाशें जिंदा हो गई हैं। ऐसे-ऐसे बाकमाल पड़े हुए हैं।

डाक्टर चड्ढा बोले—मेरी अक्ल पर पत्थर पड़ गया था कि इसकी बातों में आ गया। नश्तर लगा देता, तो यह नौबत ही क्यों आती। बार-बार समझाता रहा कि बेटा, साँप न पालो, मगर कौन सुनता था। बुलाइए, किसी झाड़-फूँक करने वाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले ले, मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरों पर रख दूँगा। लँगोटी बाँधकर घर से निकल जाऊँगा, मगर मेरा कैलाश, मेरा प्यारा कैलाश उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसी को बुलवाइए।

एक महाशय का किसी झाड़ने वाले से परिचय था। वह दौड़कर उसे बुला लाए, मगर

कैलाश की सूरत देखकर उसे मंत्र चलाने की हिम्मत न पड़ी। बोला—अब क्या हो सकता है, सरकार? जो कुछ होना था, हो चुका?

अरे मूर्ख, यह क्यों नहीं कहता कि जो कुछ न होना था वह हुआ, जो कुछ होना था, वह कहाँ हुआ? माँ-बाप ने बेटे का सेहरा कहाँ देखा? मृणालिनी का कामना-तरु क्या पल्लव और पुष्प से रंजित हो उठा? मन के वह स्वर्ण-स्वप्न जिनसे जीवन आनंद का स्रोत बना हुआ था, क्या पूरे हो गए? जीवन के नृत्यमय तारिका-मंडित सागर में आमोद की बहार लूटते हुए क्या उनकी नौका जलमग्न नहीं हो गई? जो न होना था, वह हो गया।

वही हरा-भरा मैदान था, वही सुनहरी चाँदनी एक निःशब्द संगीत की भाँति प्रकृति पर छायी हुई थी, वही मित्र समाज था। वही मनोरंजन के सामान थे। मगर जहाँ हास्य की ध्वनि थी, वहाँ करुण क्रन्दन और अश्रु-प्रवाह था।

3

शहर से कई मील दूर एक छोटे-से घर में एक बूढ़ा और बुढ़िया अंगीठी के सामने बैठे जाड़े की रात काट रहे थे। बूढ़ा नारियल पीता था और बीच-बीच में खाँसता था। बुढ़िया दोनों घुटनियों में सिर डाले आग की ओर ताक रही थी। एक मिट्टी के तेल की कुप्पी ताक पर जल रही थी। घर में न चारपाई थी, न बिछौना। एक किनारे थोड़ी-सी पुआल पड़ी हुई थी। इसी कोठरी में एक चूल्हा था। बुढ़िया दिन-भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी। बूढ़ा रस्सी बट कर बाजार में बेच आता था। यही उनकी जीविका थी। उन्हें न किसी ने रोते देखा, न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फुरसत! बुढ़िया ने पूछा—कल के लिए सन तो है नहीं, काम क्या करोगे?

'जा कर झगड़ू साह से दस सेर सन उधार लाऊँगा।'

'उसके पहले के पैसे तो दिए ही नहीं, और उधार कैसे देगा?'

'न देगा न सही। घास तो कहीं नहीं गई। दोपहर तक क्या दो आने की भी न काटूँगा?'

इतने में एक आदमी ने द्वार पर आवाज दी—भगत, भगत, क्या सो गए? जरा किवाड़ खोलो।

भगत ने उठकर किवाड़ खोल दिए। एक आदमी ने अंदर आकर कहा—कुछ सुना, डाक्टर चड्ढा बाबू के लड़के को साँप ने काट लिया।

भगत ने चौंककर कहा—चड्ढा बाबू के लड़के को। वही चड्ढा बाबू हैं न, जो छावनी में बँगले में रहते हैं?

'हाँ-हाँ वही। शहर में हल्ला मचा हुआ है। जाते हो तो जाओ, आदमी बन जाओगे।'

बूढ़े ने कठोर भाव से सिर हिला कर कहा—मैं नहीं जाता। मेरी बला जाए। वही चड्ढा है। खूब जानता हूँ। भैया, लेकर उन्हीं के पास गया था। खेलने जा रहे थे। पैरों पर गिर पड़ा कि एक नजर देख लीजिए, मगर सीधे मुँह से बात तक न की। भगवान बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का गम कैसा होता है। कई लड़के हैं।

'नहीं जी, यही तो एक लड़का था। सुना है, सबने जवाब दे दिया है।'

'भगवान बड़ा कारसाज है। उस बखत मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े थे, पर उन्हें तनिक भी दया न आई थी। मैं तो उनके द्वार पर होता, तो भी बात न पूछता।'

'तो न जाओगे? हमने जो सुना था, सो कह दिया।'

'अच्छा किया—अच्छा किया। कलेजा ठंडा हो गया, आँखें ठंडी हो गईं। लड़का भी ठंडा हो गया होगा। तुम जाओ। आज चैन की नींद सोऊँगा। (बुढ़िया से) जरा तम्बाकू ले ले। एक चिलम और पीऊँगा। अब मालूम होगा लाला को। सारी साहबी निकल जाएगी, हमारा क्या बिगड़ा। लड़के के मर जाने से कुछ राज तो नहीं चला गया? जहाँ छः बच्चे गए थे, वहाँ एक और चला गया, तुम्हारा तो राज सूना हो जाएगा। उसी के वास्ते सबका गला दबा-दबा कर जोड़ा था न। अब क्या करोगे?' एक बार देखने जाऊँगा, पर कुछ दिन बाद। मिजाज का हाल पूछूंगा।'

आदमी चला गया। भगत ने किवाड़ बंद कर लिए, तब चिलम पर तम्बाखू रख कर पीने लगा। बुढ़िया ने कहा—इतनी रात गए जाड़े-पाले में कौन जाएगा?

'अरे, दोपहर ही होता तो मैं न जाता। सवारी दरवाजे पर लेने आती, तो भी न जाता। भूल नहीं गया हूँ। पन्ना की सूरत आँखों में फिर रही है। इस निर्दयी ने उसे एक नजर देखा तक नहीं। क्या मैं न जानता था कि वह न बचेगा? खूब जानता था। चड्ढा भगवान नहीं थे, कि उनके एक निगाह देख लेने से अमृत बरस जाता। नहीं, खाली मन की दौड़ थी। अब किसी दिन जाऊँगा और कहूँगा—क्यों साहब, कहिए, क्या रंग हैं? दुनिया बुरा कहेगी, कहे, कोई परवाह नहीं। छोटे आदमियों में तो सब ऐब हैं। बड़ों में कोई ऐब नहीं होता, देवता होते हैं।'

भगत के लिए यह जीवन में पहला अवसर था कि ऐसा समाचार पा कर वह बैठा रह गया हो। अस्सी वर्ष के जीवन में ऐसा कभी न हुआ था कि साँप की खबर पाकर वह दौड़ न गया हो। माघ-पूस की अँधेरी रात, चैत-बैसाख की धूप और लू, सावन-भादो की चढ़ी हुई नदी और नाले, किसी की उसने कभी परवाह न की। वह तुरंत घर से निकल पड़ता था—निःस्वार्थ, निष्काम! लेन-देन का विचार कभी दिल में आया नहीं। यह ऐसा काम ही न था। जान का मूल्य कौन दे सकता है? यह एक पुण्य-कार्य था। सैकड़ों निराशों को उसके मंत्रों ने जीवन-दान दे दिया था, पर आज वह घर से कदम नहीं निकाल सका। यह खबर सुन कर सोने जा रहा है।

बुढ़िया ने कहा—तमाखू अँगीठी के पास रखी हुई है। उसके भी आज ढाई पैसे हो गए। देती ही न थी।

बुढ़िया यह कह कर लेटी। बूढ़े ने कुप्पी बुझाई, कुछ देर खड़ा रहा, फिर बैठ गया। अंत को लेट गया, पर यह खबर उसके हृदय पर बोझे की भाँति रखी हुई थी। उसे मालूम हो रहा था, उसकी कोई चीज खो गई है, जैसे सारे कपड़े गहले हो गए हैं या पैरों में कीचड़ लगा हुआ है, जैसे कोई उसके मन में बैठा हुआ उसे घर से निकालने के लिए कुरेद रहा है। बुढ़िया जरा देर में खर्राटे लेने लगी। बूढ़े बातें करते-करते सोते हैं और जरा-सा खटा होते ही जागते हैं। तब भगत उठा, अपनी लकड़ी उठा ली और धीरे से किवाड़ खोले।

बुढ़िया ने पूछा—कहाँ जाते हो?

'कहीं नहीं, देखता था कि कितनी रात है।'

'अभी बहुत रात है, सो जाओ।'

'नींद नहीं आती।'

'नींद काहे आवेगी? मन तो चड्ढा के घर पर लगा हुआ है।'

'चड्ढा ने मेरे साथ कौन-सी नेकी कर दी है, जो वहाँ जाऊँ? वह आ कर पैरों पड़े, तो भी न जाऊँ।

मानो विजय उसके सामने खड़ी है। जब एक बार मंत्र समाप्त हो जाता, तब वह एक जड़ी कैलाश के सिर पर डाल देता और न जाने कितनी बार भगत ने मंत्र फूँका। आखिर जब उषा ने अपनी लाल-लाल आँखें खोलीं तो कैलाश की भी लाल-लाल आँखें खुल गई। एक क्षण में उसने अंगड़ाई ली और पानी पीने को मांगा। डाक्टर चड्ढा ने दौड़ कर नारायणी को गले लगा लिया। नारायणी दौड़कर भगत के पैरों पर गिर पड़ी और मृणालिनी कैलाश के सामने आँखों में आंसू भरे पूछने लगी— अब कैसी तबीयत है?

एक क्षण में चारों तरफ खबर फैल गई। मित्रगण मुबारकबाद देने आने लगे। डाक्टर साहब बड़े श्रद्धा-भाव से हर एक के सामने भगत का यश गाते फिरते थे। सभी लोग भगत के दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठे, मगर अंदर जा कर देखा, तो भगत का कहीं पता न था। नौकरों ने कहा—अभी तो यहीं बैठे चिलम पी रहे थे। हम लोग तमाखू देने लगे, तो नहीं ली, अपने पास से तमाखू निकाल कर भरी।

यहाँ तो भगत की चारों ओर तलाश होने लगी और भगत लपका हुआ घर चला जा रहा था कि बुढ़िया के उठने से पहले पहुँच जाऊँ।

जब मेहमान लोग चले गए, तो डाक्टर साहब ने नारायणी से कहा—बुड्ढा न-जाने कहाँ चला गया। एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ।

नारायणी –मैंने तो सोचा था, इसे कोई बड़ी रकम दूँगी।

चड्ढा – रात को तो मैंने नहीं पहचाना, पर जरा साफ हो जाने पर पहचान गया। एक बार यह एक मरीज को लेकर आया था। मुझे अब याद आता है कि मैं खेलने जा रहा था और मरीज को देखने से इनकार कर दिया था। आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकालूँगा और उसके पैरों पर गिर कर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ, उसका जन्म यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है, जो अब से जीवनपर्यंत मेरे सामने रहेगा।

'हरिशंकर परसाई'

हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई जी का जन्म 22 अगस्त, 1922 में मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में स्थित, भूमिजमानी गाँव में हुआ था। ये हिंदी के प्रथम रचनाकार थे जिन्होंने व्यंग्य को विधा का दर्जा दिलाया और उसे हल्के-फुल्के मनोरंजन की परंपरागत परिधि से उबारकर समाज के व्यापक प्रश्नों से जोड़ा। इनकी व्यंग्य रचनाएँ हमारे मन में केवल गुदगुदी ही पैदा नहीं करतीं, बल्कि हमें उन सामाजिक–वास्तविकताओं के आमने-सामने खड़ा करती हैं, जिनसे किसी भी चेतनशील व्यक्ति का अलग रह पाना लगभग असंभव है। लगातार खोखली होती जा रही हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में पिसते मध्यवर्गीय मन की सच्चाइयों को हरिशंकर परसाई ने बहुत ही निकटता से पकड़ा है। सामाजिक पाखंड और रूढ़िवादी जीवन मूल्यों की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने सदैव विवेक और विज्ञान सम्मत दृष्टि को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।

इनकी प्रारंभिक शिक्षा तो इनके गाँव में ही शुरू हुई, जहाँ से शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे नागपुर चले गए। 'नागपुर विश्वविद्यालय' से एम. ए. की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात कुछ दिनों तक अध्यापन कार्य में लीन रहे। किंतु इनके अंदर के व्यंग्यकार ने इन्हें स्वतंत्र लेखन करने को विवश कर दिया। इन्होंने 'वसुधा' पत्रिका का प्रकाशन किया किंतु पत्रिका घाटे में जब जाने लगी तो तुरंत ही उसे बंद भी कर दिया। 'देशबंधु' अखबार में पाठकों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों के उत्तर देने का कार्य भी किया, जिसका नाम था – 'पूछिये परसाई से'। इश्किया सवालों से धीरे-धीरे परसाई ने पाठकों को गंभीर सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों की ओर प्रवृत्त किया। धीरे-धीरे इसका दायरा अंतर्राष्ट्रीय हो गया क्योंकि यह सहज जन-शिक्षा थी।

इनकी पहली रचना 'स्वर्ग से नरक जहाँ तक है' है जो कि मई, 1948 में 'प्रहरी' में प्रकाशित हुई, जिसमें पहली बार उन्होंने धार्मिक पाखंड और अंध-विश्वास पर खुले स्वर में लिखा। इनकी प्रमुख रचनाओं में 'सदाचार का ताबीज', 'तब की बात और थी', 'भूत के पाँव पीछे बेईमानी की परत', 'शिकायत मुझे भी है' और 'प्रेमचंद के फटे जूते' हैं। इनकी प्रमुख व्यंग्य-संग्रहों में 'विकलांग श्रद्धा का दौर', 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' आदि हैं। चूँकि ये बोलचाल की सामान्य भाषा का प्रयोग करते इसलिए इनकी रचनाएँ आमजन तक आसानी से पहुँचती गई और ये लोकप्रिय होते गए। इन्हें 'विकलांग श्रद्धा का दौर' के लिए साहित्य अकादमी से विभूषित किया गया। अपने हास्य व्यंग्य से सभी को मोहने वाले परसाई का निधन 10 अगस्त, 1955 में हो गया, किंतु व्यंग्य विधा को नई पहचान देने के लिए हिंदी साहित्य इनका सदैव ऋणी रहेगा।

भोलाराम का जीव

हरिशंकर परसाई

ऐसा कभी नहीं हुआ था...

धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफ़ारिश के आधार पर स्वर्ग या नर्क में निवास-स्थान 'अलॉट' करते आ रहे थे— पर ऐसा कभी नहीं हुआ था।

सामने बैठे चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार थूक से पन्ने पलट, रजिस्टर देख रहे थे। गलती पकड़ में ही नहीं आ रही थी। आखिर उन्होंने खीझकर रजिस्टर इतने ज़ोर से बंद किया, कि मक्खी चपेट में आ गई।उसे निकालते हुए वह बोले— "महाराज, रिकार्ड सब ठीक है। भोलाराम के जीव ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी तक नहीं पहुँचा।"

धर्मराज ने पूछा, "और वह दूत कहाँ है?"

"महाराज, वह भी लापता है।"

इसी समय द्वार खुले और एक यमदूत बहुत बदहवास-सा वहाँ आया। उसका मौलिक कुरूप चेहरा परिश्रम, परेशानी और भय के कारण और भी विकृत हो गया था। उसे देखते ही चित्रगुप्त चिल्ला उठे, "अरे, तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है?

यमदूत हाथ जोड़कर बोला, "दयानिधान, मैं कैसे बतलाऊँ कि क्या हो गया। आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर इस बार भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया। पाँच दिन पहले जब जीव ने भोलाराम की देह त्यागी, तब मैंने उसे पकड़ा और इस लोक की यात्रा आरंभ की। नगर के बाहर ज्योंही मैं उसे लेकर एक तीव्र वायु-तरंग पर सवार हुआ, त्यों ही वह मेरे चंगुल से छूटकर न जाने कहाँ गायब हो गया। इन पाँच दिनों में मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर उसका कहीं पता नहीं चला।"

धर्मराज क्रोध से बोले, "मूर्ख, जीवों को लाते-लाते बूढ़ा हो गया, फिर भी एक मामूली बूढ़े आदमी के जीव ने तुझे चकमा दे दिया।"

दूत ने सिर झुकाकर कहा, "महाराज, मेरी सावधानी में बिलकुल कसर नहीं थी। मेरे इन अभ्यस्त हाथों से अच्छे-अच्छे वकील भी नहीं छूट सके, पर इस बार तो कोई इंद्रजाल ही हो गया।"

चित्रगुप्त ने कहा, "महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को फल भेजते हैं और वे रास्ते में ही रेलवेवाले उड़ा लेते हैं। ज़री के पार्सलों के मौजे रेलवे-अफ़सर पहनते हैं। मालगाड़ी के डिब्बे-के-डिब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो

रही है। राजनैतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर कहीं बंद कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी तो किसी विरोधी ने, मरने के बाद भी खराबी करने के लिए नहीं उड़ा दिया?"

धर्मराज ने व्यंग्य से चित्रगुप्त की ओर देखते हुए कहा, "तुम्हारी भी रिटायर होने की उम्र आ गई। भला भोलाराम जैसे नगण्य, दीन आदमी से किसी को क्या लेना-देना?"

इसी समय कहीं से घूमते-फिरते नारद मुनि वहाँ आ गए। धर्मराज को गुमसुम बैठे देख बोले, "क्यों धर्मराज, कैसे चिंतित बैठे हैं? क्या नर्क में निवास-स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई?"

धर्मराज ने कहा, 'वह समस्या तो कभी की हल हो गई, मुनिवर! नर्क में पिछले सालों में बड़े गुणी कारीगर आ गए हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनाईं। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गए हैं, जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर भारत की पंचवर्षीय-योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मज़दूरों की हाज़िरी भरकर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गए ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नर्क में कई इमारतें तान दी हैं। वह समस्या तो हल हो गई। भोलाराम नाम के एक आदमी की पाँच दिन पहले मृत्यु हुई। उसके जीव को यह दूत यहाँ ला रहा था, कि जीव इसे रास्ते में चकमा देकर भाग गया। इसने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर वह कहीं नहीं मिला। अगर ऐसा होने लगा, तो पाप-पुण्य का भेद ही मिट जाएगा।"

नारद ने पूछा, "उस पर इन्कम-टैक्स तो बकाया नहीं था? हो सकता है, उन लोगों ने रोक लिया हो।"

चित्रगुप्त ने कहा, "इन्कम होती तो टैक्स होता! ...भुखमरा था!"

नारद बोले, "मामला बड़ा दिलचस्प है। अच्छा, मुझे उसका नाम-पता तो बतलाओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।"

चित्रगुप्त ने रजिस्टर देखकर बताया, "भोलाराम नाम था उसका, जबलपुर शहर के धमापुर मुहल्ले में नाले के किनारे एक डेढ़ कमरे के टूटे-फूटे मकान में वह परिवार-समेत रहता था। उसकी एक स्त्री थी, दो लड़के और एक लड़की। उम्र लगभग पैंसठ साल। सरकारी नौकर था, पाँच साल पहले रिटायर हो गया था। मकान का किराया उसने एक साल से नहीं दिया था, इसलिए मकान-मालिक उसे निकालना चाहता था। इतने में भोलाराम ने संसार ही छोड़ दिया। आज पाँचवाँ दिन है। बहुत संभव है कि अगर मकान-मालिक, वास्तविक मकान-मालिक है तो उसने भोलाराम के मरते ही उसके परिवार को निकाल दिया होगा। इसलिए आपको परिवार की तलाश में काफी घूमना पड़ेगा।"

0 0

माँ-बेटी के सम्मिलित क्रन्दन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान गए।

द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज़ लगाई, 'नारायण...नारायण!" लड़की ने देखकर कहा, "आगे जाओ, महाराज।"

नारद ने कहा, "मुझे भिक्षा नहीं चाहिए। मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करनी है। अपनी माँ को जरा बाहर भेजो, बेटी।"

भोलाराम की पत्नी बाहर आई। नारद ने कहा, ", भोलाराम को क्या बीमारी थी?"

"क्या बताऊँ? गरीबी की बीमारी थी। पाँच साल हो गए, पेंशन पर बैठे, पर पेंशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरख्वास्त देते थे, पर वहाँ से या तो जवाब ही नहीं आता था और आता तो यही कि तुम्हारी पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पाँच सालों में मेरे सब गहने बेचकर हमलोग खा गए। फिर बर्तन बिके। अब कुछ नहीं बचा था। फाके होने लगे थे। चिंता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।"

नारद ने कहा, "क्या करोगी, माँ?.... उनकी इतनी ही उम्र थी।"

"ऐसा तो मत कहो, महाराज। उम्र तो बहुत थी। पचास-साठ रुपया महीना पेंशन मिलती, तो कुछ और काम कहीं करके गुजारा हो जाता। पर क्या करें? पाँच साल नौकरी से बैठे हो गए और अभी तक एक कौड़ी नहीं मिली।"

दुख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वह अपने मुद्दे पर आए, "माँ, यह तो बताओ कि यहाँ किसी से क्या उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जी लगा हो?"

पत्नी बोली, "लगाव तो महाराज, बाल-बच्चों से ही होता है।"

"नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है, कोई स्त्री..."

स्त्री ने गुर्राकर नारद की ओर देखा। बोली, "बको मत महाराज। साधु हो, कोई लुच्चे-लफंगे नहीं हो। जिंदगी भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को आँख उठाकर भी नहीं देखा।

नारद हँसकर बोले, "हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक ही है। यही भ्रम अच्छी गृहस्थी का आधार है। अच्छा, माता, मैं चला।"

व्यंग्य समझने की असमर्थता ने नारद को सती के क्रोध की ज्वाला से बचा लिया।

स्त्री ने कहा, "महाराज, आप तो साधु हैं, सिद्ध पुरुष हैं। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी रुकी हुई पेंशन मिल जाए। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जाएगा।"

नारद को दया आ गई थी। वह कहने लगे, "साधुओं की बात कौन मानता है? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं। फिर भी मैं सरकारी दफ्तर जाऊँगा और कोशिश करूँगा।"

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर में पहुँचे। वहाँ पहले ही कमरे में बैठे बाबू से उन्होंने भोलाराम के केस के बारे में बातें कीं। उस बाबू ने उन्हें ध्यानपूर्वक देखा और बोला, "भोलाराम ने दरख्वास्तें तो भेजी थीं, पर उन पर वजन नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड़ गई होंगी।"

नारद ने कहा, 'भई, ये बहुत-से पेपरवेट तो रखे हैं। इन्हें क्यों नहीं रख दिया?"

बाबू हँसा, "आप साधु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरख्वास्तें पेपरवेट से नहीं दबतीं...खैर, आप उस कमरे में बैठे बाबू से मिलिए।"

नारद उस बाबू के पास गए। उसने तीसरे के पास भेजा, तीसरे ने चौथे के पास, चौथे ने पाँचवें के पास। जब नारद पचीस-तीस बाबुओं और अफसरों के पास घूम आए, तब एक चपरासी ने कहा, "महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड़ गए? आप अगर साल-भर भी यहाँ चक्कर लगाते रहें, तो भी काम नहीं होगा। आप तो सीधे बड़े साहब से मिलिए। उन्हें खुश कर लिया तो अभी काम हो जाएगा।"

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे। बाहर चपरासी ऊँघ रहा था, इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। उन्हें एकदम बिना विजटिंग कार्ड के आया देख, साहब बड़े नाराज हुए। बोले, इसे कोई "मंदिर-वंदिर समझ लिया है क्या? धड़धड़ाते चले आए। चिट क्यों नहीं भेजी?"

नारद ने कहा, "कैसे भेजता? चपरासी तो सो रहा है।"

"क्या काम है?" साहब ने रौब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पेंशन-केस बतलाया।

साहब बोले, "आप हैं वैरागी, दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मंदिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है, भेंट चढ़ानी पड़ती है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरख्वास्तें उड़ रही हैं, उन पर वजन रखिए।

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वजन की समस्या खड़ी हो गई। साहब बोले, "भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेंशन का केस बीसों दफ्तरों में जाता है। देर लग ही जाती है। हजारों बार एक ही बात को हजार जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है। जितनी पेंशन मिलती है उतनी कीमत की स्टेशनरी लग जाती है। हाँ, जल्दी भी हो सकती है, मगर..." साहब रुके।

नारद ने कहा, "मगर क्या?"

साहब ने कुटिल मुसकान के साथ कहा, 'मगर वज़न चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुंदर वीणा है, इसका भी वजन भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। साधुओं की वीणा तो बड़ी पवित्र होती है।

लड़की जल्दी संगीत सीख गई, तो उसकी शादी हो जाएगी।"

नारद अपनी वीणा छिनते देखकर ज़रा घबराए। पर फिर सँभलकर उन्होंने वीणा टेबल पर रखकर कहा, "यह लीजिए। अब ज़रा जल्दी उसकी पेंशन का ऑर्डर निकाल दीजिए।"

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुर्सी दी, वीणा को एक कोने में रखा और घंटी बजाई। चपरासी हाज़िर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया, 'बड़े बाबू से भोलाराम के केस की फाइल लाओ।"

थोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की सौ-डेढ़-सौ दरख्वास्तों से भरी फ़ाइल लेकर आया। उसमें पेंशन के कागजात भी थे। साहब ने फाइल पर का नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा, 'क्या नाम बताया, साधुजी, आपने?"

नारद ने समझा कि साहब कुछ ऊँचा सुनता है। इसलिए जोर से बोले, "भोलाराम।"

सहसा फ़ाइल में से आवाज़ आई, "कौन पुकार रहा है मुझे? पोस्टमैन है क्या? पेंशन का ऑर्डर आ गया?"

साहब डरकर कुर्सी से लुढ़क गए। नारद भी चौंके। पर दूसरे ही क्षण बात समझ गए। बोले, "भोलाराम! तुम क्या भोलाराम के जीव हो।"

"हाँ," आवाज़ आई।

नारद ने कहा, "मैं नारद हूँ। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, स्वर्ग में तुम्हारा इंतज़ार हो रहा है।"

आवाज़ आई, "मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरख्वास्तें छोड़कर नहीं जा सकता!"...

मन्नू भंडारी

हिंदी की प्रसिद्ध कथाकार मन्नू भंडारी का जन्म मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले के भानपुर गांव में हुआ। इनके बचपन का नाम महेन्द्र कुमारी था लेकिन लेखन जगत में वह मन्नू नाम से प्रसिद्ध हुई। वरिष्ठ कथाकार मन्नू ने एम. ए. तक की शिक्षा प्राप्त की और वर्षों तक दिल्ली के मिरांडा हाउस में अध्यापन किया। पिता सुख सम्पतराय जाने-माने लेखक थे और पिता से ही लेखन का संस्कार उन्हें विरासत में मिला था। कई कहानी संग्रहों, उपन्यासों, नाटकों आदि की रचनाकार मन्नू भंडारी विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में प्रेमचंद सृजनपीठ की अध्यक्ष भी रहीं। व्यास सम्मान, हिंदी अकादमी, शिखर सम्मान (दिल्ली) सहित बिहार सरकार, भारतीय भाषा परिषद (कोलकाता), राजस्थान नाटक अकादमी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत मन्नू ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्री लेखन को नई धार दी। स्त्री समस्याओं के साथ-साथ मध्यवर्गीय जीवन, राजनीतिक स्थितियों, सामाजिक विसंगतियों और पारिवारिक जीवन के प्रश्नों को उन्होंने अपनी रचनाओं में बखूबी उभारा है। इनकी कुछ रचनाओं के नाम हैं – एक प्लेट सैलाब, मैं हार गई, तीन निगाहों की एक तस्वीर, यही सच है, त्रिशंकु, आंखों देखा झूठ, नायक, खलनायक विदूषक (कहानी संग्रह), आपका बंटी, महाभोज (उपन्यास), बिना दीवारों का घर (नाटक) आदि। मन्नी भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर 'रजनीगंधा' नामक प्रसिद्ध फिल्म बनी। 'एक कहानी यह भी' इनकी आत्मकथा है। पति राजेन्द्र यादव के साथ मिलकर 'एक इंच मुस्कान' नामक प्रयोगात्मक उपन्यास की रचना की।

त्रिशंकु

मन्नू भंडारी

'घर की चहारदीवारी आदमी को सुरक्षा देती है पर साथ ही उसे एक सीमा में बाँधती भी है। स्कूल-कालेज जहाँ व्यक्ति के मस्तिष्क का विकास करते हैं, वहीं नियम-कायदे और अनुशासन के नाम पर उसके व्यक्तित्व को कुंठित भी करते हैं... बात यह है बंधु, कि हर बात का विरोध उसके भीतर ही रहता है।'

ये सब मैं किसी किताब के उदाहरण नहीं पेश कर रही। ऐसी भारी-भरकम किताबें पढ़ने का तो मेरा बूता ही नहीं। ये तो उन बातों और बहसों के टुकड़े हैं जो रात-दिन हमारे घर में हुआ करती हैं। हमारा घर यानी बुद्धिजीवियों का अखाड़ा। यहाँ सिगरेट के धुएँ और कॉफी के प्यालों के बीच बातों के बड़े-बड़े तूमार बाँधे जाते हैं...बड़ी-बड़ी शाब्दिक क्रांतियाँ की जाती हैं। इस घर में काम कम और बातें ज्यादा होती हैं। मैंने कहीं पढ़ा तो नहीं, पर अपने घर से यह लगता ज़रूर है कि बुद्धिजीवियों के लिए काम करना शायद वर्जित है। मातुश्री अपनी तीन घंटे की तफरीहनुमा नौकरी बजाने के बाद मुक्त। थोड़ा-बहुत पढ़ने-लिखने के बाद जो समय बचता है वह या तो बात-बहस में जाता है या फिर लेट लगाने में। उनका खयाल है कि शरीर के निष्क्रिय होते ही मन-मस्तिष्क सक्रिय हो उठते हैं और वे दिन के चौबीस घंटों में से बारह घंटे अपना मन-मस्तिष्क ही सक्रिय बनाए रखती हैं। पिताश्री और भी दो कदम आगे। उनका बस चले तो वे नहाएँ भी अपनी मेज पर ही।

जिस बात की हमारे यहाँ सबसे अधिक कताई होती है, वह है—आधुनिकता। पर ज़रा ठहरिए, आप आधुनिकता का गलत अर्थ मत लगाइए। यह बाल कटाने और छुरी-काँटे से खानेवाली आधुनिकता कतई नहीं है। यह है ठेठ बुद्धिजीवियों की आधुनिकता। यह क्या होती है सो तो ठीक-ठीक मैं भी नहीं जानती- पर हाँ, इसमें लीक छोड़ने की बात बहुत सुनाई देती है। आप लीक को दुलत्ती झाड़ते आइए, सिर-आँखों पर—लीक से चिपककर आइए, दुलत्ती खाइए।

बहसों में यों तो दुनिया-जहान के विषय पीसे जाते हैं पर एक विषय शायद सब लोगों का बहुत प्रिय है और वह है शादी। शादी यानी बर्बादी। हल्के-फुल्के ढंग से शुरू हुई बात एकदम बौद्धिक स्तर पर चली जाती है—विवाह-संस्था एकदम खोखली हो चुकी है...पति-पत्नी का सम्बन्ध बड़ा नकली और ऊपर से थोपा हुआ है... और फिर धुआँधार ढंग से विवाह की धज्जियाँ उड़ाई जाती हैं। इस बहस में अक्सर स्त्रियाँ एक तरफ हो जातीं और पुरुष एक तरफ और बहस का माहैल कुछ ऐसा गरम हो जाया करता कि मुझे पूरा विश्वास हो जाता कि अब ज़रूर एक-दो लोग तलाक दे बैठेंगे। पर मैंने देखा कि ऐसा कोई हादसा कभी हुआ नहीं। सारे ही मित्र लोग अपने-अपने ब्याह को खूब अच्छी तरह तह-समेट कर, उस पर जमकर आसन मारे बैठे हैं। हाँ,

बहस की रफ़्तार और टोन आज भी वही है।

अब सोचिए, ब्याह को कोसेंगे तो फ्री-लव और फ्री-सेक्स को तो पोसना ही पड़ेगा। इसमें पुरुष लोग उछल-उछलकर आगे रहते—कुछ इस भाव से मानो बात करते ही इनका आधा सुख तो वे ले ही लेंगे। पापा खुद बड़े समर्थक। पर हुआ यों कि घर में हमेशा चुप-चुप रहनेवाली दूर-दराज की एक दिदिया ने बिना कभी इन बहसों में भाग लिए ही इस पर पूरी तरह अमल कर डाला तो पाया कि सारी आधुनिकता अड़ड़ड़धम! वह तो फिर ममी ने बड़े सहज ढंग से सारी बात को सँभाला और निरर्थक विवाह के बंधन में बाँधकर दिदिया का जीवन सार्थक किया। हालाँकि यह बात बहुत पुरानी है और मैंने तो बड़ी दबी-ढकी ज़बान से इसका ज़िक्र ही सुना है।

वैसे पापा-ममी का भी प्रेम-विवाह हुआ था। यों यह बात बिलकुल दूसरी है कि होश संभालने के बाद मैंने उन्हें प्रेम करते नहीं केवल बहस करते ही देखा है। विवाह के पहले अपने इस निर्णय पर ममी को नाना से भी बहुत बहस करनी पड़ी थी और बहस का यह दौर बहुत लंबा भी चला था शायद। इसके बावजूद यह बहस-विवाह नहीं, प्रेम-विवाह ही है, जिसका जिक्र ममी बड़े गर्व से किया करतीं। गर्व, विवाह को लेकर नहीं, पर इस बात को लेकर है कि किस प्रकार उन्होंने नाना से मोर्चा लिया। अपने और नाना के बीच हुए संवादों को वे इतनी बार दोहरा चुकी हैं कि मुझे वे कंठस्थ से हो गए हैं। आज भी जब वे उसकी चर्चा करती हैं तो लीक से हटकर कुछ करने का संतोष उनके चेहरे पर झलक उठता है।

बस, ऐसे ही घर में मैं पल रही हूँ— बड़े मुक्त और स्वच्छंद ढंग से। और पलते-पलते एक दिन अचानक बड़ी हो गई। बड़े होने का यह अहसास मेरे अपने भीतर से इतना नहीं फुटा, जितना बाहर से। इसके साथ भी एक दिलचस्प घटना जुड़ी हुई है। हुआ यों कि घर के ठीक सामने एक बरसाती है—एक कमरा और उसके सामने फैली छत। उसमें हर साल दो-तीन विद्यार्थी आकर रहते...छत पर घूम-घूमकर पढ़ते, पर कभी ध्यान ही नहीं गया। शायद ध्यान जाने जैसी मेरी उम्र ही नहीं थी। इस बार देखा, वहाँ दो लड़के आए हैं। थे तो वे दो ही, पर शाम तक उनके मित्रों का एक अच्छा-खासा जमघट हो जाता और सारी छत ही नहीं, सारा मोहल्ला तक गुलजार। हँसी-मज़ाक, गाना-बजाना और आस-पास की जो भी लड़कियाँ उनकी नज़र के दायरे में आ जाती, उन पर चुटीली फब्तियाँ। पर उनकी नज़रों का असली केंद्र हमारा.. और स्पष्ट कहूँ तो मैं ही थी। बरामदे में निकलकर मैं कुछ भी करूँ, उधर से एक न एक रिमार्क हवा में उछलता हुआ टपकता और मैं भीतर तक थराथरा उठती। मुझे पहली बार लगा कि मैं हूँ...और केवल हूँ ही नहीं...किसी के आकर्षण का केंद्र हूँ। ईमानदारी से कहूँ तो अपने होने का यह पहला अहसास बड़ा रोमांचक लगा और अपनी ही नज़रों में मैं नई हो उठी...नई और बड़ी।

अजीब-सी स्थिति थी। जब वे फब्तियाँ कसते तो मैं गुस्से से भन्ना जाती—हालाँकि उनकी फब्तियों में अशिष्टता कहीं नहीं थी...थी तो केवल मन को सहलानेवाली एक चुहल। पर जब वे

नहीं होते या होकर भी आपस में ही मशगूल रहते तो मैं प्रतीक्षा करती रहती... एक अनाम-सी बेचैनी भीतर-ही-भीतर कसमसाती रहती। आलम यह है कि हर हालत में ध्यान वहीं अटका रहता और मैं कमरा छोड़कर बरामदे में ही टँगी रहती।

पर इन लड़कों के इस हल्ले-गुल्लेवाले व्यवहार ने मोहल्लेवालों की नींद ज़रूर हराम कर दी। हमारा मोहल्ला यानी हाथरस-खुरजा के लालाओं की बस्ती। जिनके घरों में किशोरी लड़कियाँ थीं वे बाँहें चढ़ा-चढ़ाकर दाँत और लात तोड़ने की धमकियाँ दे रहे थे क्योंकि सबको अपनी लड़कियों का भविष्य खतरे में जो दिखाई दे रहा था। मोहल्ले में इतनी सरगर्मी और मेरे ममी पापा को कुछ पता ही नहीं। बात असल में यह है कि इन लोगों ने अपनी स्थिति एक द्वीप जैसी बना रखी है। सबके बीच रहकर भी सबसे अलग।

एक दिन मैंने ममी से कहा, "ममी, ये जो सामने लड़के आए हैं, जब देखो मुझ पर रिमार्क पास करते हैं। मैं चुपचाप नहीं सुनूँगी, मैं भी यहाँ से जवाब दूँगी।

"कौन लड़के?" ममी ने आश्चर्य से पूछा।

कमाल है, ममी को कुछ पता ही नहीं। मैंने कुछ खीज और कुछ पुलक के मिले-जुले स्वर में सारी बात बताई। पर ममी पर कोई विशेष प्रतिक्रिया ही नहीं हुई।

"बताना कौन ये लड़के..." बड़े ठंडे लहजे में उन्होंने कहा और फिर पढ़ने लगीं। अपना छेड़ा जाना मुझे जितना सनसनीखेज लग रहा था, उस पर माँ की ऐसी उदासीनता मुझे अच्छी नहीं लगी। कोई और माँ होती तो फेंटा कसकर निकल जाती और उनकी सात पुश्तों को तार देती। पर माँ पर जैसे कोई असर ही नहीं।

दोपहर ढले लड़कों की मज़लिस छत पर जमी तो मैंने ममी को बताया। "देखो, ये लड़के हैं जो सारे समय इधर देखते रहते हैं और मैं कुछ भ्री करूँ उस पर फब्तियाँ कसते हैं।" पता नहीं मेरे कहने में ऐसा क्या था कि माँ एकटक मेरी ओर देखती रहीं, फिर धीरे से मुस्कराईं। थोड़ी देर तक छतवाले लड़कों का मुआयना करने के बाद बोलीं :

"कॉलेज के लड़के मालूम होते हैं, पर ये तो एकदम बच्चे हैं।"

मन हुआ, कहूँ कि मुझे बच्चे नहीं तो क्या बूढ़े छेड़ेंगे? पर तभी ममी बोलीं, "कल शाम को इन लोगों को चाय पर बुला लेते हैं और तुमसे दोस्ती करवा देते हैं।"

मैं तो अवाक!

"तुम इन्हें चाय पर बुलाओगी?" मुझे जैसे ममी की बात पर विश्वास ही नहीं हो रहा था।

"हाँ, क्यों, क्या हुआ? अरे, यह तो हमारे ज़माने में होता था कि मिल तो सकते नहीं, बस दूर से ही फ़ब्तियाँ कस-कसकर तसल्ली करो। अब तो ज़माना बदल गया।"

मैं तो इस विचार-मात्र से ही पुलकित। लगा, माँ सचमुच कोई ऊँची चीज़ हैं। ये लोग हमारे घर आएंगे और मुझसे दोस्ती करेंगे। एकाएक मुझे लगने लगा कि मैं बहुत अकेली हूँ और मुझे किसी की दोस्ती की सख्त आवश्यकता है। इस मोहल्ले में मेरा किसी से विशेष मेज-जोल नहीं और घर में केवल ममी-पापा के दोस्त ही आते हैं।

दूसरा दिन मेरा बहुत ही संशय में बीता। पता नहीं ममी अपनी बात पूरी भी करती हैं या यों ही रौ में कह गईं और बात खतम! शाम को मैंने याद दिलाने के लिए ही कहा :

"ममी, तुम सचमुच ही उन लड़कों को बुलाने जाओगी?" शब्द मेरे यही थे, वरना भाव तो था कि ममी जाओ न —प्लीज़!

और ममी सचमुच ही चली गई। मुझे याद नहीं, ममी दो-चार बार से अधिक मोहल्ले में किसी के घर गई हों। मैं साँस रोककर उनके लौटने की प्रतीक्षा करती रही। एक विचित्र-सी थिरकन मैं अंग-प्रत्यंग में महसूस कर रही थी। कहीं ममी साथ ही लेती आईं तो? कहीं वे ममी से बदतमीज़ी से पेश आए तो? पर नहीं, वे ऐसे लगते तो नहीं हैं। कोई घंटे भर बाद ममी लौटीं। बेहद प्रसन्न।

"मुझे देखते ही उनकी तो सिट्टी-पिट्टी ही गुम हो गई। उन्हें लगा, अभी तक तो लोग अपने-अपने घरों से ही उनके लात-दाँत तोड़ने की धमकी दे रहे थे, मैं जैसे सीधे घर ही पहुँच गई उनकी हड्डी-पसली एक करने। पर फिर तो इतनी ख़ातिर की बेचारों ने कि बस! बड़े ही स्वीट बच्चे हैं। बाहर से आए हैं-हॉस्टल में जगह नहीं मिली इसलिए कमरा लेकर रह रहे हैं। शाम को जब पापा आएंगे तब बुलवा लेंगे।"

प्रतीक्षा में समय इतना बोझिल हो जाता है, यह भी मेरा पहला अनुभव था। पापा आए तो ममी ने बड़े उमगकर सारी बात बताई। सबसे कुछ अलग करने का संतोष और गर्व उनके हर शब्द में से जैसे छलका पड़ रहा था। पापा ही कौन पीछे रहनेवाले थे। उन्होंने सुना तो वे भी प्रसन्न।

"बुलाओ लड़कों को! अरे खेलने-खाने दो और मस्ती मारने दो बच्चों को।" ममी-पापा को अपनी आधुनिकता तुष्ट करने का एक जोरदार अवसर मिल रहा था।

नौकर को भेजकर उन्हें बुलवाया गया तो अगले ही क्षण सब हाज़िर। ममी ने बड़े कायदे से परिचय करवाया और 'हलो–हाऽई' का आदान-प्रदान हुआ।

"तनु बेटे, अपने दोस्तों के लिए चाय बनाओ।"

धत्तेरे की! ममी के दोस्त आएं तब भी तनु बेटा चाय बनाए और उसके दोस्त आएँ तब भी! पर मन मारकर उठी।

चाय-पानी होता रहा। खूब हँसी-मज़ाक भी चली। वे सफाई पेश करते रहे कि मोहल्लेवाले

झूठ-मूठ ही उनके पीछे पड़े रहते हैं.... वे तो ऐसा कुछ भी नहीं करते। 'जस्ट फार फन' कुछ कर दिया वरना इस सबका कोई मतलब नहीं।

पापा ने बढ़ावा देते हुए कहा, "अरे, इस उमर में तो यह सब करना ही चाहिए। हमें मौका मिले तो आज भी करने से बाज न आएं।"

हँसी की एक लहर यहाँ से वहाँ तक दौड़ गई। कोई दो घंटे बाद वे चलने लगे तो ममी ने कहा, "देखो, इसे अपना ही घर समझो। जब इच्छा हो, चले आया करो। हमारी तनु बिटिया को अच्छी कम्पनी मिल जाएगी...कभी तुम लोगों से कुछ पढ़ भी लिया करेगी और देखो, कुछ खाने-पीने का मन हुआ करे तो बता दिया करना, तुम्हारे लिए बनवा दिया करूँगी..." और वे लोग पापा के खुलेपन और ममी की आत्मीयता और स्नेह पर मुग्ध होते हुए चले गए। बस, जिससे दोस्ती करवाने के लिए उन्हें बुलाया गया था, वह बेचारी इस तमाशे की मात्र दर्शक भर ही बनी रहीं।

उनके जाने के बाद बड़ी देर तक उनको लेकर ही चर्चा होती रही। अपने घर की किशोरी लड़की को छेड़नेवाले लड़कों को घर बुलाकर चाय पिलाई जाए और लड़की से दोस्ती करवाई जाए, यह सारी बात ही बड़ी थ्रिलिंग और रोमांचक लग रही थी। दूसरे दिन से ममी हर आनेवाले से इस घटना का उल्लेख करती। वर्णन करने में पटु ममी नीरस से नीरस बात को भी ऐसा दिलचस्प बना देती हैं, फिर यह तो बात ही बड़ी दिलचस्प थी। जो सुनता वही कहता— वाह, यह हुई न कुछ बात! आपका बड़ा स्वस्थ दृष्टिकोण है चीज़ों के प्रति, वरना लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करेंगे पर बच्चों को घोटकर रखेंगे और ज़रा-सा शक-शुबह हो जाए तो बाकायदा जासूसी करेंगे। और ममी इस प्रशंसा से निहाल होती हुई कहती—'और नहीं तो क्या? मुक्त रहो और बच्चों को मुक्त रखो। हम लोगों को बचपन में 'यह मत करो...यहाँ मत जाओ' कह-कहकर कितना बाँधा गया था। हमारे बच्चे तो कम-से-कम इस घुटन के शिकार न हों।'

पर ममी का बच्चा उस समय एक दूसरी ही घुटन का शिकार हो रहा था और वह यह कि जिस नाटक की हीराइन उसे बनना था, उसकी हीरोइन ममी बन बैठीं।

खैर, इस सारी घटना का परिणाम यह हुआ कि उन लड़कों का व्यवहार एकदम ही बदल गया। जिस शराफ़त को ममी ने उन पर लाद दिया, उसके अनुरूप व्यवहार करना उनकी मजबूरी बन गया। अब जब भी वे अपनी छत पर ममी-पापा को देखते तो अदब में लपेटकर एक नमस्कार और मुझे देखते तो मुस्कान में लपेटकर एक 'हाऽइ' उछाल देते। फब्तियों की जगह बाकायदा हमारा वार्तालाप शुरू हो गया...बड़ा खुला और बेझिझक वार्तालाप। हमारे बरामदे और छत में इतना ही फासला था कि जोर से बोलने पर बातचीत की जा सकती थी। हाँ, यह बात जरूर थी कि हमारी बातचीत सारा मोहल्ला सुनता था और काफी दिलचस्पी से सुनता था। जैसे ही हम लोग चालू होते, पास-पड़ोस की खिड़कियों में चार-छह सिर और धड़ आकर चिपक जाते। मोहल्ले में लड़कियों के प्रेम-प्रसंग न हो, ऐसी बात तो थी नहीं, बाकायदा लड़कियों के भागने तक की

घटनाएँ घट चुकी थीं। पर वह सब कुछ बड़े गुप्त और छिपे ढंग से होता था। और मोहल्लेवाले जब अपनी पैनी नज़रों से ऐसे किसी रहस्य को जान लेते थे तो बड़ा संतोष उन्हें होता था। पुरुष पूँछों पर ताव देकर और स्त्रियाँ हाथ नचा-नचाकर, खूब नमक-मिर्च लगाकर इन घटनाओं का यहाँ से वहाँ तक प्रचार करतीं। कुछ इस भाव से कि अरे, हमने दुनिया देखी है...हमारी आँखों में कोई नहीं धूल झोंक सकता है। पर यहाँ स्थिति ही उलट गई थी। हमारा वार्तालाप इतने खुलेआम होता था कि लोगों को खिड़कियों की ओट में छिप-छिपकर देखना-सुनना पड़ता था और सुनकर भी ऐसा कुछ उनके हाथ नहीं लगता था जिससे वे कुछ आत्मिक संतोष पाते।

पर बात को बढ़ना था और बात बढ़ी। हुआ यह कि धीरे-धीरे छत की मजलिस मेरे अपने कमरे में जमने लगी। रोज ही कभी दो, तो कभी तीन या चार लड़के आकर जम जाते और दुनिया-भर के हँसी-मज़ाक और गपशप का दौर चलता। गाना-बजाना भी होता और चाय-पानी भी। शाम को ममी-पापा के मित्र आते तो इन लोगों में से कोई न कोई बैठा ही होता। शुरू में जिन लोगों ने 'मुक्त रहो और मुक्त रखो' की बड़ी प्रशंसा की थी, उन्होंने मुक्त रहने का जो रूप देखा तो उनकी आँखों में भी कुछ अजीब-सी शंकाएँ तैरने लगीं। ममी की एकाध मित्र ने दबी ज़बान में कहा भी—'तनु तो बड़ी फास्ट चल रही है।' ममी को अपना सारा उत्साह मंद पड़ गया था और लीक से हटकर कुछ करने की थ्रिल पूरी तरह झड़ चुकी थी। अब तो उन्हें इस नंगी सच्चाई को झेलना था कि उनकी निहायत ही कच्ची और नाजुक उम्र की लड़की तीन-चार लड़कों के बीच घिरी रहती है औा ममी की स्थिति यह थी कि वे न इस स्थिति को पूरी तरह स्वीकार कर पा रही थीं और न अपने ही द्वारा बड़े जोश से शुरू किए इस सिलसिले को नकार ही पा रही थीं।

आखिर एक दिन उन्होंने मुझे अपने पास बिठाकर कहा, "तनु बेटे, ये लोग रोज़-रोज़ यहाँ आकर जम जाते हैं। आखिर तुमको पढ़ना-लिखना भी तो है। मैं तो देख रही हूँ कि इस दोस्ती के चक्कर में तेरी पढ़ाई-लिखाई सब चौपट हुई जा रही है। इस तरह तो यह सब चलेगा नहीं।"

"रात को पढ़ती तो हूँ।" लापरवाही से मैंने कहा।

"खाक पढ़ती है रात को, समय ही कितना मिलता है? और फिर यह रोज़-रोज़ धमा-चौकड़ी मुझे वैसे भी पसंद नहीं। ठीक है, चार-छह दिन में कभी आ गए, गप-शप कर ली, पर यहाँ तो एक न एक रोज़ ही डटा रहता है।" ममी के स्वर में आक्रोश का पुट गहराता जा रहा था।

ममी की यह टोन मुझे अच्छी नहीं लगी, पर मैं चुप।

"तू तो उनसे बहुत खुल गई है, कह दे कि वे लोग भी बैठकर पढ़ें और तुझे भी पढ़ने दें। और तुझसे न कहा जाए तो मैं कह दूंगी।"

पर किसी के भी कहने की नौबत नहीं आई। कुछ तो पढ़ाई की मार से, कुछ दिल्ली के दूसरे आकर्षणों से खिंचकर हॉस्टलवाले लड़कों का आना कम हो गया। पर सामने के कमरे से शेखर रोज़ ही आ जाता...कभी दोपहर में, तो कभी शाम को। तीन-चार लोगों की उपस्थिति में

उसकी जिस बात पर मैंने ध्यान नहीं दिया, वही बात अकेले में सबसे अधिक उजागर होकर आई। वह बोलता कम था, पर शब्दों के परे बहुत कुछ कहने की कोशिश करता था और एकाएक ही मैं उसकी अनकही भाषा समझने लगी थी...केवल समझने ही नहीं लगी थी, प्रत्युत्तर भी देने लगी थी। जल्दी ही मेरी समझ में आ गया कि शेखर और मेरे बीच प्रेम जैसी कोई चीज़ पनपने लगी है। यों तो शायद मैं समझ ही नहीं पाती पर हिंदी फिल्में देखने के बाद इसको समझने में खास मुश्किल नहीं हुई।

जब तक मन में कहीं कुछ नहीं था, सब कुछ बड़ा खुला था पर जैसे ही 'कुछ' हुआ तो उसे औरों की नज़र से बचाने की इच्छा भी साथ ही आई। जब कभी दूसरे लड़के आते तो सीढ़ियों से ही शोर करते आते...ज़ोर-ज़ोर से बोलते। लेकिन शेखर जब भी आता रेंगता हुआ आता और फुसफुसाकर हम बातें करते। वैसे बातें बहुत ही साधारण होती थीं... स्कूल की, कॉलेज की। पर फुसफुसाकर करने में ही वे कुछ विशेष लगती थीं। प्रेम को कुछ रहस्यमय, कुछ गुपचुप बना दो तो वह बड़ा थ्रिलिंग हो जाता है वरना तो एकदम सीधा-सपाट ! पर ममी के पास घर और घरवालों के हर रहस्य को जान लेने की एक छठी इंद्रिय है जिससे पापा भी काफी त्रस्त रहते हैं...उससे उन्हें यह सब समझने में ज़रा भी देर नहीं लगी। शेखर कितना ही दब-छिपकर आता और ममी घर के किसी भी कोने में होती...फट् से प्रकट हो जातीं या फिर वहीं से पूछतीं—'तनु, कौन है तुम्हारे कमरे में?'

मैंने देखा कि शेखर के इस रवैये से ममी के चेहरे पर एक अजीब-सी परेशानी झलकने लगी है। पर ममी इस बात को लेकर यों परेशान हो उठेंगी, यह तो मैं सोच भी नहीं सकती थी। जिस घर में रात-दिन तरह-तरह के प्रेम-प्रसंग ही पीसे जाते रहे हों—कुँआरों के प्रेम-प्रसंग, विवाहितों के प्रेम-प्रसंग दो-तीन प्रेमियों से एकसाथ चलनेवाले प्रेम-प्रसंग—उस घर के लिए तो यह बात बहुत ही मामूली होनी चाहिए। जब लड़कों से दोस्ती की है तो एकाध से प्रेम भी हो ही सकता है। मकी ने शायद समझ लिया था कि यह सारी स्थिति आजकल की कलात्मक फिल्मों की तरह चलेगी—जिनकी वे बड़ी प्रशंसक और समर्थक हैं—पर जिनमें शुरू से लेकर आखिर तक कुछ भी सनसनीखेज घटता ही नहीं।

जो भी हो, ममी की इस परेशानी ने मुझे भी कहीं हल्के-से विचलित ज़रूर कर दिया। ममी मेरी माँ ही नहीं, मित्र और साथिन भी हैं। दो घनिष्ठ मित्रों की तरह ही हम दुनिया-जहान की बातें करते हैं-हँसी-मज़ाक करते हैं। मैं चाहती थी कि वे इस बारे में भी कोई बात करें, पर उन्होंने कोई बात नहीं की। बस, जब शेखर आता तो वे अपनी स्वभावगत लापरवाही छोड़कर बड़े सजग भाव से मेरे कमरे के इर्द-गिर्द ही मँडराती रहती।

एक दिन ममी के साथ बाहर जाने के लिए मैं नीचे उतरी तो दरवाज़े पर ही पड़ोस की एक भद्र महिला टकरा गई। नमस्कार और कुशलक्षेम के आदान-प्रदान के बाद वे बात के असली

मुद्दे पर आईं।

"ये सामने की छतवाले लड़के आपके रिश्तेदार हैं क्या?"

"नहीं तो।"

"अच्छा? शाम को रोज़ ही आपके घर बैठे रहते हैं तो सोचा, आपके ज़रूर कुछ लगते होंगे।"

"तनु के दोस्त हैं।" ममी ने कुछ ऐसी लापरवाही और निःसंकोच भाव से यह वाक्य उछाला कि बेचारी तीर निशाने पर न लगने का ग़म लिए ही लौट गई।

वे तो लौट गईं पर मुझे लगा कि इस बात का सूत्र पकड़कर ही ममी अब ज़रूर मेरी थोड़ी धुनाई कर देंगी। कहनेवाली का तो कुछ न बना पर मेरा कुछ बिगाड़ने का हथियार तो ममी के हाथ में आ ही गया। बहुत दिनों से उनके अपने मन में भी कुछ उमड़-घुमड़ तो रहा ही है पर ममी ने इतना ही कहा :

"लगता है, इनके अपने घर में कोई धंधा नहीं है...जब देखो, दूसरे के घर में चोंच गड़ाए बैठे रहते हैं।"

मैं आश्वस्त ही नहीं हुई बल्कि ममी की ओर से इसे हरा सिगनल समझकर मैंने अपनी रफ़्तार कुछ और तेज़ कर दी। पर इतना ज़रूर किया कि शेखर के साथ तीन घंटों में से एक घंटा ज़रूर पढ़ाई में गुज़ारती। वह बहुत मन लगाकर पढ़ाता और मैं बहुत मन लगाकर पढ़ती। हाँ, बीच-बीच में वह कागज़ की छोटी-छोटी पर्चियों पर कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिखकर थमा देता कि मैं भीतर तक झनझना जाती। उसके जाने के बाद भी उन पंक्तियों के वे शब्द...शब्दों के पीछे के भाव मेरी रग-रग में सनसनाते रहते और मैं उन्हीं में डूबी रहती।

मेरे भीतर अपनी ही एक दुनिया बनती चली जा रही थी—बड़ी भरी-पूरी और रंगीन। आजकल मुझे किसी की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती। लगता जैसे मैं अपने में ही पूरी हूँ। हमेशा साथ रहनेवाली ममी भी आउट होती जा रही हैं और शायद यही कारण है कि इधर मैंने ममी पर ध्यान देना ही छोड़ दिया। रोज़मर्रा की बातें तो होती हैं, पर केवल बातें ही होती हैं—उसके परे कहीं कुछ नहीं। दिन गुज़रते जा रहे थे और मैं अपने में ही डूबी, अपनी दुनिया में और गहरे धँसते जा रही था—बाहर की दुनिया से एक तरह से बेखबर-सी।

एक दिन स्कूल से लौटी, कपड़े बदले। शोर-शराबे के साथ खाना माँगा, मीन-मेख के साथ खाया और जब कमरे में घुसी तो ममी ने लेटे-लेटे ही बुला :

"तनु, इधर आओ।"

पास आई तो पहली बार ध्यान गया कि ममी का चेहरा तमतमा रहा है। मेरा माथा ठनका।

उन्होंने साइड-टेबल पर से एक किताब उठाई और उसमें से कागज़ की पाँच-छः पर्चियाँ सामने कर दीं। 'तौबा!' ममी से कुछ पढ़ना था सो जाते समय उन्हें अपनी किताब दे गई थी। गलती से शेखर की लिखी पर्चियाँ उसी में रह गईं।

"तो इस तरह चल रही है शेखर और तुम्हारी दोस्ती? यही पढ़ाई होती है यहाँ बैठकर...यही सब करने के लिए आता है वह यहाँ?

मैं चुप! जानती हूँ, गुस्से में ममी को जवाब देने से बढ़कर मूर्खता और कोई नहीं।

"तुमको छूट दी...आज़ादी दी, पर इसका यह मतलब तो नहीं कि तुम उसका नाजायज़ फायदा उठाओ।"

मैं फिर भी चुप!

"बित्ते भर की लड़की और करतब देखो इनके! जितनी छूट दो उतने ही पैर पसरते जा रहे हैं इनके। झापड़ दूँगी तो सारा रोमांस झड़ जाएगा दो मिनट में..."

इस वाक्य पर मैं एकाएक तिलमिला उठी। तमककर नज़र उठाई और ममी की तरफ देखा– पर यह क्या, यह तो मेरी ममी नहीं हैं। ने यह तेवर ममी का है, न यह भाषा। फिर भी ये सारे वाक्य बहुत परिचित से लगे। लगा, यह सब मैंने कहीं सुना है और खटाक् से मेरे मन में कौंधा–नाना! पर नाना को मरे तो कितने साल हो गए, ये फिर जिंदा कैसे हो गए? और वह भी ममी के भीतर ...जो होश सँभालने के बाद हमेशा उनसे झगड़ा ही करती रहीं... उनकी हर बात का विरोध ही करती रहीं।

ममी का 'नानई' लहजेवाला भाषण काफी देर तक चालू रहा, पर वह सब मुझे कहीं से भी छू नहीं रहा था... सब, कोई बात झकझोर रही थी तो यही कि ममी के भीतर नाना कैसे आ बैठे?

और फिर घर में एक विचित्र-सा तनावपूर्ण मौन छा गया– खास कर मेरे और ममी के बीच। नहीं, ममी तो घर में रही ही नहीं, मेरे और नाना के बीच। मैं ममी को अपनी बात समझा भी सकती हूँ, उनकी बात समझ भी सकती हूँ–पर नाना? मैं तो इस भाषा से भी अपरिचित हूँ और इस तेवर से भी– बात करने का प्रश्न ही कैसे उठता? पापा जरूर मेरे दोस्त, पर बिल्कुल दूसरी तरह के। शतरंज खेलना, पंजा लड़ाना और जो फर्माइश ममी पूरी न करें, उनसे पूरी करवा लेना। बचपन में उनकी पीठ पर लदी रहती थी और आज भी बिना किसी झिझक के उनकी पीठ पर लदकर अपनी हर इच्छा पूरी करवा लेती हूँ। पर इने 'माई डियर दोस्त' होने के बावजूद अपनी निजी बातें मैं ममी के साथ ही करती आई हूँ। और वहाँ एकदम सन्नाटा–ममी को पटखनी देकर नाना पूरी तरह उन पर सवार जो हैं।

शेखर को मैंने इशारे से ही लाल झंडी दिखा दी थी सो वह भी नहीं आ रहा और शाम का समय है कि मुझसे काटे नहीं कटता।

कई बार मन हुआ कि ममी से जाकर बात करूँ और साफ-साफ पूछूं कि तुम इतना बिगड़ क्यों रही हो? मेरी और शेखर की दोस्ती के बारे में तुम जानती तो हो। मैंने तो कभी कुछ छिपाया नहीं। और दोस्ती है तो यह सब तो होगा ही। तुम क्या समझ रही थीं कि हम भाई-बहन की तरह—पर तभी ख्याल आता कि ममी हैं ही कहां, जिनसे जाकर यह सब कहूँ।

चार दिन हो गए, मैंने शेखर की सूरत तक नहीं देखी। मेरे हल्के से इशारे से ही उस बेचारे ने तो घर क्या, छत पर आना भी छोड़ दिया। हॉस्टल में रहनेवाले उसके साथी भी छत पर न दिखाई दिए, न घर ही आए। कोई आता तो कम-से-कम उसका हालचाल ही पूछ लेती। मैं जानती हूँ वह बेवकूफी की हद तक भावुक है। उसे तो ठीक से यह भी नहीं मालूम कि आखिर यहाँ हुआ क्या है? लगता है ममी के गुस्से की आशंका मात्र से ही सबके हौसले पस्त हो गए थे।

वैसे कल से ममी के चेहरे का तनाव कुछ ढीला जरूर हुआ है। तीन दिन से जमी हुई सख्ती जैसे पिघल गई हो। पर मैंने तय कर लिया है कि बात अब ममी ही करेंगी।

सवेरे नहा-धोकर मैं दरवाजे के पीछे अपनी यूनिफार्म प्रेस कर रही थी। बाहर मेज़ पर ममी चाय बना रही थीं और पापा अखबार में सिर गड़ाए बैठे थे। ममी को शायद मालूम ही नहीं पड़ा कि मैं कब नहाकर बाहर निकल आई। वे पापा से बोलीं :

"जानते हो, कल रात को क्या हुआ? पता नहीं, तब से मन बहुत खराब हो गया—उसके बाद मैं तो सो ही नहीं पाई।"

ममी के स्वर की कोमलता से मेरा हाथ जहाँ का तहाँ थम गया और कान बाहर लग गए।

"आधी रात के करीब मैं बाथरूम जाने के लिए उठी। सामने छत पर घुप्प अँधेरा छाया हुआ था। अचानक एक लाल सितारा-सा चमक उठा। मैं चौंकी। गौर से देखा तो धीरे-धीरे एक आकृति उभर आई। शेखर छत पर खड़ा सिगरेट पी रहा था। मैं चुपचाप लौट आई। कोई दो घंटे बाद फिर गई तो देखा, वह उसी तरह छत पर टहल रहा था। बेचारा...मेरा मन जाने कैसा हो आया। तनु भी कैसी बुझी-बुझी रहती है..." फिर जैसे अपने को ही धिक्कारती-सी बोलीं, "पहले तो छूट दो और फिर जब आगे बढ़ें तो खींचकर चारों खाने चित्त कर दो। यह भी कोई बात हुई भला।"

राहत का एक गहरा निःश्वास मेरे भीतर से निकल पड़ा। जाने कैसा आवेग मन में उमड़ा कि इच्छा हुई, दौड़कर ममी के गले से लग जाऊँ। लगा, जैसे अरसे के बाद मेरी ममी लौटकर आई हों। पर मैंने कुछ नहीं कहा। बस, अब खुलकर बात करूँगी। चार दिन से न जाने कितने प्रश्न मन में घुमड़ रहे थे। अब क्या, अब तो ममी हैं, और उनसे तो कम-से-कम सब कहा-पूछा

जा सकता है।

पर घर पहुँचकर जो देखा तो अवाक्! शेखर हथेलियों में सिर थामे कुर्सी पर बैठा है और ममी उसी कुर्सी के हत्थे पर बैठी उसकी पीठ और माथ सहला रही हैं। मुझे देखते ही बड़े सहज-स्वाभाविक स्वर में बोलीं :

"देखा इस पगले को! चार दिन से ये साहब कालेज नहीं गए हैं। न ही कुछ खाया-पिया है। अपने साथ इसका भी खाना लगवाना।"

और फिर ममी ने खुद बैठकर बड़े स्नेह से मनुहार कर-करके उसे खाना खिलाया। खाने के बाद कहने पर भी शेखर ठहरा नहीं। ममी के प्रति कृतज्ञता के बोझ से झुका-झुका ही वह लौट गया और मेरे भीतर खुशी का ऐसा ज्वार उमड़ा कि अब तक के सोचे सारे प्रश्न उसी में बिला गए।

सारी स्थिति को सम पर आने में समय तो लगा, पर आ गई। शेखर ने भी अब एक-दो दिन छोड़कर आना शुरू किया और आता भी तो अधिकतर हम लिखाई-पढ़ाई की ही बात करते। अपने किए पर शर्मिंदगी प्रकट करते हुए उसने ममी से वायदा किया कि वह अब कोई ऐसा काम नहीं करेगा, जिससे ममी को शिकायत हो। जिस दिन वह नहीं आता, मैं दो-तीन बार थोड़ी-थोड़ी देर के लिए अपने बरामदे से ही बात कर लिया करती। घर की अनुमति और सहयोग से यों सरेआम चलनेवाले इस प्रेम-प्रसंग में मोहल्लेवालों के लिए भी कुछ नहीं रह गया था और उन्होंने इस जानलेवा ज़माने के नाम पर दो-चार लानतें भेजकर, किसी गुल खिलने तक के लिए अपनी दिलचस्पी को स्थगित कर दिया।

लेकिन एक बात मैंने ज़रूर देखी। जब भी शेखर शाम को कुछ ज्यादा देर बैठ जाता या दोपहर में भी आता तो ममी के भीतर नाना कसमसाने लगते और उसकी प्रतिक्रिया ममी के चेहरे पर झलकने लगती। ममी भरसक कोशिश करके नाना को बोलने तो नहीं देतीं, पर उन्हें पूरी तरह हटा देना भी शायद ममी के बस की बात नहीं रह गई थी।

हाँ, यह प्रसंग मेरे और ममी के बीच में अब रोज़मर्रा की बातचीत का विषय ज़रूर बन गया था। कभी वे मज़ाक में कहती, "यह जो तेरा शेखर है न, बड़ा लिजलिजा-सा लड़का है। अरे, इस उम्र में लड़कों को चाहिए घूमें, फिरें...मस्ती मारें। क्या मुहर्रमी-सी सूरत बनाए मजनूं की तरह छत पर टँगा सारे समय इधर ही ताकता रहता है।"

मैं केवल हँस देती।

कभी बड़ी भावुक होकर कहतीं, "तू क्यों नहीं समझती बेटे, कि तुझे लेकर कितनी महत्वाकांक्षाएँ हैं मेरे मन में। तेरे भविष्य को लेकर कितने सपने सँजो रखे हैं मैंने।"

मैं हँस कर कहती, "ममी, तुम भी कमाल करती हो। अपनी ज़िंदगी को लेकर भी तुम सपने देखो और मेरी ज़िंदगी के सपने भी तुम्हीं देख डालो... कुछ सपने मेरे लिए भी छोड़ दो।

कभी वे समझाने के लहजे में कहतीं, "देखो तनु, अभी तुम बहुत छोटी हो। अपना सारा ध्यान पढ़ने-लिखने में लगाओ और दिमाग से ये उल्टे-सीधे फितूर निकाल डालो। ठीक है, बड़े हो जाओ तो प्रेम भी करना और शादी भी। मैं तो वैसे भी तुम्हारे लिए लड़का ढूँढनेवाली नहीं हूँ--अपने-आप ही ढूँढ़ना, पर इतनी अक्ल तो आ जाए कि ढंग का चुनाव कर सको।"

अपने चुनाव के रिजेक्शन को मैं समझ जाती और पूछती, "अच्छा ममी बताओ, जब तुमने पापा को चुना था तो ह नाना को पसंद था?"

"मेरा चुनाव! अपनी सारी पढ़ाई-लिखाई खत्म करके पच्चीस साल की उमर में चुनाव किया था मैंने—खूब सोच-समझकर और अक्ल के साथ, समझी।"

ममी अपनी बौखलाहट को गुस्से में छिपाकर कहतीं। उम्र और पढ़ाई-लिखाई—ये दो ही तो ऐसे मुद्दे हैं जिस पर ममी मुझे जब तक धाँसती रहती हैं। पढ़ने-लिखने में मैं अच्छी थी और रहा उम्र का सवाल, सो उसके लिए मन होता कि कहूँ—'ममी, तुम्हारी पीढ़ी जो काम पच्चीस साल की उम्र में करती थी, हमारी उसे पंद्रह साल की उम्र में ही करेगी, इसे तुम क्यों नहीं समझतीं? पर चुप रह जाती। नाना का जिक्र तो चल ही पड़ा है, कहीं वे जाग उठे तो?

छःमाही परीक्षाएँ पास आ गई थीं और मैंने सारा ध्यान पढ़ने में लगा दिया था। सबका आना और गाना-बजाना एकदम बंद। इन दिनों मैंने इतनी जमकर पढ़ाई की कि ममी का मन प्रसन्न हो गया। शायद कुछ आश्वस्त भी। आखिरी पेपर देने के पश्चात लग रहा था कि एक बोझ था, जो हट गया है। मन बेहद हल्का होकर कुछ मस्ती मारने को कर रहा था। मैंने ममी से पूछा :

"ममी, कल शेखर और दीपक पिक्चर जा रहे हैं, मैं भी साथ चली जाऊँ?" आज तक मैं इन लोगों के साथ कभी घूमने नहीं गई थी–पर इतनी पढ़ाई करने के बाद अब इतनी छूट तो मिलनी ही थी।

ममी एक क्षण मेरा चेहरा देखती रहीं, फिर बोलीं, "इधर आ, यहाँ बैठ। तुझसे बात करनी है।"

मैं जाकर बैठ गई पर यह न समझ आया कि इसमें बात करने को क्या है—हाँ कहो या ना। लेकिन ममी को बात करने का मर्ज जो है। उनकी तो हाँ ना भी पचास-साठ वाक्यों में लिपटे बिना नहीं निकल सकती।

"तेरे इम्तिहान खतम हुए, मैं तो खुद पिक्चर का प्रोग्राम बना रही थी। बोल, कौन-सी पिक्चर देखना चाहती है?"

"क्यों, उन लोगों के साथ जाने में क्या है?" मेरे स्वर में इतनी खीज भरी हुई थी कि ममी एकटक मेरा चेहरा ही देखती रह गई।

"तनु, तुझे पूरी छूट दे रखी है बेटे, पर इतनी ही तेज़ चल कि मैं भी साल तो चल सकूँ।"

"तुम साफ कहो न कि जाने दोगी या नहीं? बेकार की बातें...मैं भी साथ चल सकूँ—तुम्हारे साथ चल सकने की बात भला कहाँ से आ गई?

ममी ने पीठ सहलाते हुए कहा, "साथ तो चलना ही पड़ेगा। कभी औंधे मुँह गिरी तो कोई उठानेवाला भी तो चाहिए न।"

मैं समझ गई कि ममी नहीं जाने देंगी, पर इस तरह प्यार से मना करती हैं तो झगड़ा भी तो नहीं किया जा सकता। बहस करने का सीधा-सा मतलब है कि उनका बघारा हुआ दर्शन सुनो--यानी पचास मिनट की एक क्लास। पर मैं कतई नहीं समझ पाई कि जाने में आखिर हर्ज क्या है, हर बात में न-नुकूर। कहाँ तो कहती थीं कि बचपन में, 'यह मत करो, वहाँ मत जाओ' कहकर हमको बहुत डाँटा गया था, और खुद अब वही सब कर रही हैं। देख लिया इनकी बड़ी-बड़ी बातों को। मैं उठी और दनदनाती हुई अपने कमरे में आ गई। हाँ, एक वाक्य ज़रूर थमा आई, "ममी, जो चलेगा, वह गिरेगा भी और जो गिरेगा, वह उठेगा भी और खुद ही उठेगा उसे किसी की ज़रूरत नहीं है।"

पता नहीं, मेरी बात की उन पर प्रतिक्रिया हुई या उनके अपने मन में ही कुछ जागा कि शाम को उन्होंने खुद शेखर और उसके कमरे पर आए तीनों-चारों लड़कों को बुलवाकर मेरे ही कमरे में मज़लिस जमवाई और खूब गरम-गरम खाना खिलवाया। कुछ ऐसा रंग जमा कि मेरा दोपहरवाला आक्रोश धुल गया।

इम्तिहान खतम हो गए थे और मौसम सुहाना था। ममी का रवैया भी अनुकूल था सो दोस्ती का स्थगित हुआ सिलसिला फिर शुरू हो गया और आजकल तो जैसे उसके सिवाय कुछ रह ही नहीं गया था। पर फिर एक झटका।

उस दिन मैं अपनी सहेली के घर से लौटी तो ममी की सख्त आवाज़ सुनाई दी :

"तनु, इधर आओ तो।"

आवाज़ से ही लगा कि यह खतरे का सिगनल है। एक क्षण को मैं सकते में आ गई। पास गई तो चेहरा पहले की तरह सख्त।

"तुम शेखर के कमरे पर जाती हो?" ममी ने बंदूक दागी। समझ गई कि पीछे गली में से किसी ने अपना करतब कर दिखाया।

"कब से जाती हो?"

मन तो हुआ कि कहूँ जिसने जाने की खबर दी है, उसने बाकी बातें भी बता ही दी होंगी...कुछ जोड़-तोड़कर ही बताया होगा। पर ममी जिस तरह भभक रही थी, उसमें चुप रहना ही बेहतर समझा। वैसे मुझे ममी के इस गुस्से का कोई कारण समझ में नहीं आ रहा था। दो-तीन बार यदि मैं थोड़ी-थोड़ी देर के लिए शेखर के कमरे पर चली गई तो ऐसा क्या गुनाह हो गया? पर ममी का हर काम सकारण तो होता नहीं—बस, वे तो मूड पर ही चलती हैं।

अजीब मुसीबत थी—गुस्से में ममी से बात करने का कोई मतलब नहीं...और मेरी चुप्पी ममी के गुस्से को और भड़का रही थी।

"याद नहीं है, मैंने शुरू में ही तुम्हें मना कर दिया था कि तुम उनके कमरे पर कभी नहीं जाओगी। तीन-तीन घंटे वह यहाँ धूनी रमाकर बैठता है, उसमें जी भरा नहीं तुम्हारा?"

दुःख, क्रोध और आतंक की परतें उनके चेहरे पर गहरी होती जा रही थीं और मैं समझ ही नहीं पा रही थी कैसे उन्हें सारी स्थिति समझाऊँ।

"वह तो बेचारे सामनेवालों ने मुझे बुलाकर आगाह कर दिया—"जानती है, यह सिर आज तक किसी के सामने झुका नहीं, पर वहाँ मुझसे आँख नहीं उठाई गई। मुँह दिखाने लायक मत रखना हमको कहीं भी। सारी गली में थू-थू हो रही है। नाक कटाकर रख दी।"

ग़ज़ब!

इस बार तो सारा मोहल्ला ही बोलने लगा ममी के भीतर से। आश्चर्य है कि जो ममी आज तक अपने आस-पास से बिल्कुल कटी हुई थीं... जिसका मजाक उड़ाया करती थीं— आज कैसे उसके सुर-में-सुर मिलाकर बोल रही हैं।

ममी का भाषण बदस्तूर चालू... पर मैंने तो अपने कान के स्विच ही ऑफ कर लिए। जब गुस्सा ठंडा होगा...ममी अपने में लौट आयेंगी तब समझा दूँगी—ममी, इस छोटी-सी बात को तुम नाहक इतना तूल दे रही हो।

पर जाने कैसी डोज़ ले आईं इस बार कि उनका गुस्सा ठंडा ही नहीं हो रहा है और हुआ यह कि अब उनके गुस्से से मुझे गुस्सा चढ़ने लगा।

फिर घर में एक अजीब-सा तनाव छा गया। इस बार ममी ने शायद पापा को भी सब कुछ बता दिया है। कहा तो उन्होंने कुछ नहीं... वे शुरू से ही इस सारे मामले में आउट रहे...पर इस बार उनके चेहरे पर भी एक अनकहा-सा तनाव दिखाई ज़रूर दे रहा है।

कोई दो महीने पहले जब इस तरह की घटना हुई थी तो मैं भीतर तक सहम गई थी, पर इस बार मैंने तय कर लिया है कि इस सारे मामले में ममी को यदि नाना बनकर ही व्यवहार करना है तो मुझे भी फिर ममी की तरह ही मोर्चा लेना होगा उनसे...और मैं ज़रूर लूँगी। दिखा तो दूँ कि

मैं तुम्हारी ही बेटी हूँ और तुम्हारे ही नक्शे-कदम पर चली हूँ। खुद तो लीक से हटकर चली थीं...सारी ज़िंदगी इस बात की घुट्टी पिलाती रहीं, पर मैंने जैसे ही अपना पहला कदम रखा, घसीटकर मुझे अपनी ही खींची लीक पर लाने के दंद-फंद शुरू हो गए।

मैंने मन में ढेर-ढेर तर्क सोच डाले कि एक दिन बाकायदा ममी से बहस करूँगी। साफ-साफ कहूँगी कि ममी, इतने ही बंधन लगाना रखना था तो शुरू से वैसे पालतीं। क्यों झूठ-मूठ आज़ादी देने की बातें करती-सिखाती रहीं। पर इस बार मेरा भी मन सुलगकर इस तरह राख हो गया था कि मैं गुमसुम-सी अपने ही कमरे में पड़ी रहती। मन बहुत भर आता तो रो लेती। घर में सारे दिन हँसती-खिलखिलाती रहनेवाली मैं एकदम चुप होकर अपने में ही सिमट गई थी। हाँ, एक वाक्य ज़रूर बार-बार दोहरा रही थी—'ममी, तुम अच्छी तरह समझ लो कि मैं भी अपने मन की ही करूँगी।' हालाँकि मेरे मन में क्या है, इसकी कोई ाी रूपरेखा मेरे सामने न थी।

मुझे नहीं मालूम कि इन तीन-चार दिनों में बाहर क्या हुआ? घर-बाहर की दुनिया से कटी, अपने ही कमरे में सिमटी, मैं ममी से मोर्चा लेने के दाँव सोच रही थी।

पर आज दोपहर मुझे कतई-कतई अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ जब मैंने ममी को अपने बरामदे से ही चिल्लाते हुए सुना :

"शेखर, कल तो तुम लोग छुट्टियों में अपने घर चले जाओगे, आज शाम अपने दोस्तों के साथ खाना इधर ही खाना।"

नहीं जानती, किस जद्दोजहद से गुज़रकर ममी इस स्थिति पर पहुँची होंगी। और रात को शेखर दीपक और रवि के साथ खाने की मेज़ पर डटा हुआ था। ममी उतने ही प्रेम से खाना खिला रही थीं...पापा वैसे ही खुले ढंग से मज़ाक कर रहे थे, मानो बीच में कुछ घटा ही न हो। अगल-बगल की खिड़कियों में दो-चार सिर चिपके हुए थे। सब कुछ पहले की तरह बहुत सहज-स्वाभाविक हो उठा था...।

केवल मैं इस सारी स्थिति से एकदम तटस्थ होकर यही सोच रही थी कि नाना पूरी तरह नाना थे- शत-प्रतिशत—और इसी से ममी के लिए लड़ना कितना आसान हो गया होगा। पर इन ममी से लड़ा भी कैसे जाए जो एक पल नाना होकर जीती हैं तो एक पल ममी होकर।

'पारिभाषिक शब्दावली - 100 शब्द'

1.	Accountability	-	जवाबदेही
2.	Ad-Hoc	-	तदर्थ
3.	Adjournment	-	स्थगन
4.	Adjustment	-	समायोजन
5.	Agenda	-	कार्यसूची
6.	Agreement	-	अनुबंध
7.	Allotment	-	आवंटन
8.	Allowance	-	भत्ता
9.	Allowance	-	अनुमोदन
10.	Authority	-	प्राधिकरण
11.	Autonomous	-	स्वायत्त
12.	Bonafide	-	वास्तविक
13.	By - law	-	उप-विधि
14.	Charge	-	प्रभार
15.	Circular	-	परिपत्र
16.	Compensation	-	क्षतिपूर्ति
17.	Confirmation	-	पुष्टि
18.	Consent	-	सहमति
19.	Contract	-	संविदा
20.	Discretion	-	विवेक
21.	Enclosure	-	संलग्नक
22.	Ex-Officio	-	पदेन

23.	Honorarium	-	मानदेय
24.	Infrastructure	-	आधारभूत संरचना
25.	Memorandum	-	ज्ञापन
26.	Modus Operandi	-	कार्य प्रणाली
27.	Notification	-	अधिसूचना
28.	Officiating	-	स्थानापन्न
29.	Postponement	-	स्थगन
30.	Proceedings	-	कार्यवाही
31.	Record	-	अभिलेख
32.	Retirement	-	सेवानिवृत्ति
33.	Stagnation	-	गतिरोध
34.	Verification	-	सत्यापन
35.	Account	-	लेखा / खाता
36.	Accountant	-	लेखाकार
37.	At Par	-	सममूल्य पर
38.	Audio-Visual Display	-	दृश्य श्रव्य प्रदर्श
39.	Audit	-	लेखा परीक्षा
40.	Audition	-	स्वर/ध्वनि परीक्षण
41.	Auditorium	-	प्रेक्षागृह
42.	Authentic	-	प्रामाणिक
43.	Back dated	-	पूर्व दिनांकित
44.	Bail	-	जमानत

45.	Bank Guaranty	-	बैंक प्रत्याभूति
46.	Bearer	-	वाहक
47.	Cash Balance	-	रोकड़ बाकी
48.	Clearing	-	समाशोधन
49.	Commission	-	दलाली
50.	Confiscation	-	अधिहरण
51.	Convertible	-	परिवर्तनीय
52.	Currency	-	मुद्रा
53.	Current	-	चालू - खाता
54.	Divident	-	लाभांश
55.	Documentation	-	प्रलेखन
56.	Endorsement	-	बंदोबस्ती
57.	Exchange	-	विनिमय
58.	Finance	-	वित्त
59.	Fixed Deposit	-	सावधि जमा
60.	Forfeiture	-	जब्ती
61.	Guaranty	-	प्रत्याभूति
62.	Indemnity Bond	-	क्षतिपूर्ति बंध
63.	Insolvency	-	दिवाला
64.	Investment	-	निवेश
65.	Lease	-	पट्टा
66.	Long Term Credit	-	दीर्घावधि उधार

67.	Lumpsum	-	एकमुश्त
68.	Mobilisation	-	संग्रहण
69.	Moratorium	-	भुगतान स्थगन
70.	Mortgage	-	गिरवी
71.	Output	-	उत्पादन
72.	Outstanding	-	बकाया
73.	Payable	-	देय
74.	Payment	-	भुगतान
75.	Progressive - Note	-	रूक्का / हुण्डी
76.	Realization	-	वसूली
77.	Recommendation	-	संस्तुति
78.	Rectification	-	परिशोधन
79.	Recurring	-	आवर्ती
80.	Redeemable	-	प्रतिदेय
81.	Renewal	-	नवीकरण
82.	Revenue	-	राजस्व
83.	Sensex	-	शेयर सूचकांक
84.	Security	-	प्रतिभूति
85.	Short - Term - Credit	-	अल्पावधि उधार
86.	Squeeze	-	अधिसंकुचन
87.	Sur-charge	-	अधिभार
88.	Suspense Account	-	उचंत लेखा

89.	Trade Mark	-	मार्का
90.	Transaction	-	लेनदेन
91.	Transfer	-	अंतरण
92.	Turn - Over	-	पण्यावर्त
93.	Undervaluation	-	अवमूल्यन
94.	Validity	-	वैधता
95.	Vault	-	तहखाना
96.	Warranty	-	आश्वस्ति
97.	Withdrawal	-	आहरण
98.	Working Capital	-	कार्यशील पूंजी
99.	Winding up	-	समेटना
100.	.....		